वेद सन्देश

विश्वबन्धु

कुम्भसंस्करण

ॐ

वैदिकाश्रम-ग्रन्थ-माला

संख्या १

वेद-सन्देश

प्रथम भाग।

(सम्वाद के रूप में)

लेखक,

श्री विश्वबन्धु शास्त्री, एम. ए. एम. ओ. एल.

आचार्य

दयानन्द-ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर।

प्रकाशक,

श्रीमती प्रबन्ध-कर्त्री सभा,

डी-ए-वी-कालेज, लाहौर।

द्वितीयवार २००० | दयानन्दाब्द १०२ | मूल्य १≡) सादा ,, १।।) सजिल्द

'हिन्दी प्रैस' रेलवेरोड,

लाहौर ।

प्रथम संस्करण
की
प्रस्तावना।
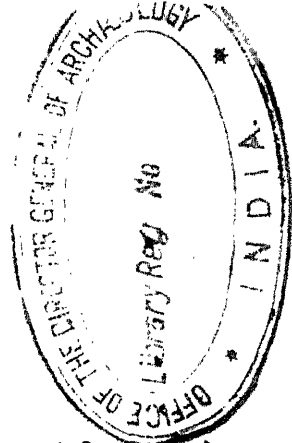
गत वर्ष, सिमला-आर्य समाज के कुछ सत्संगी सभासदों की प्रेरणा ने चिरकाल से उठती हुई इच्छाओं को दृढ़ कर दिया। आर्य-जगत् में इस प्रकार के साहित्य की कमी दिखाई देती है, जिससे सर्व-साधारण, नर नारी, बाल-वृद्ध को समान प्रकार से लाभ होसके। यह बड़े हर्ष की बात है, कि अपनी प्रबन्ध-कर्त्री सभा ने ऋषि दयानन्द-शताब्दी के उपलक्ष्य में इस प्रकार की एक पुस्तक लिखने के लिये मुझे आज्ञा करके, उपर्युक्त कामनाओं को कार्य-रूप में परिणत करने का यह अवसर दिया है। इस लघु-उपहार के साथ ही ऋषिवर की स्मृति में "वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला" की आधार-शिला रक्खी गई है।

ग्रन्थ के इस भाग में दो अध्याय हैं। तत्व-सन्देश नामक प्रथमाध्याय में वैदिक संसार के दार्शनिक स्वरूप का सविस्तर विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय का नाम 'शरीर-सन्देश' है। शरीर तथा शारीरिक जीवन के सम्बन्ध में वेद-भगवान् के उपदेश का इस में सम्पूर्ण वर्णन पाया जाता है। मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक विषयों में वेद का क्या सन्देश है, यह दूसरे और तीसरे भाग में उपस्थित करने का विचार है।

पुस्तक रचना के विषय में दो विशेषताएं रखने का यत्न किया गया है। सारा विषय सत्संग-सभा की कार्यवाही, अर्थात् सम्वाद और कथा, वार्ता के रूप में वर्णन किया गया है। प्रत्येक विचार को सरल भाषा तथा सहल प्रकार से पाठकों के आगे रखने का प्रयत्न किया गया है। जहां तक हो सका है, इसे रुचिकर तथा सरस बनाने का विचार सदा सामने रहा है। प्रत्येक अध्याय के अन्दर उच्छ्वासों का ऐसा क्रम रक्खा गया है कि सभाओं समाजों तथा परिवारों में कथा सुनाने वालों को बड़ा सुभीता रहे। विद्वानों के सापेक्ष-पाठ तथा विचार के लिये प्रत्येक प्रकरण के साथ २ टिप्पणियां दी गयी हैं। आशा है, प्रत्येक प्रकार के पाठक अपनी २ आवश्यकता तथा कक्षा के अनुसार इस परिश्रम से उपकृत होंगे तथा इस रचना-क्रम को पसन्द करेंगे।

वैदिकाश्रम, लाहौर
१७ माघ १६८१

विश्वबन्धुः

——:o:——

द्वितीय संस्करण

की

प्रस्तावना।

१—यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आर्यजनता ने विषय के महत्त्व तथा रचना की सरलता का विचार करते हुए, वेद-सन्देश को आशा से कहीं बढ़कर अपनाया है। छः मास के अन्दर ही प्रथम संस्करण समाप्त होगया था और लगभग एक वर्ष से स्वाध्याय-शील, आर्य सज्जनों को पुस्तक न मिलने के कारण निराशा हो रही थी।

प्रथम वार शीघ्रता के होने से छपाई आदि में अनेक अशुद्धियां रह गई थीं। उन सब का संशोधन तथा विषय का परिमार्जन करके इस संस्करण को छपवाया गया है। सम्वाद में आने वाले नामों में और कहीं २ टिप्पणियों में परिवर्त्तन किया गया है। परन्तु मूल विषय पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। आशा है, पाठक इस वार पुस्तक को अधिक पूर्ण पाएंगे। आगे से आकार कुछ बढ़ गया है, परन्तु मूल्य में फिर भी कमी की गई है, क्योंकि इस ग्रन्थमाला का उद्देश्य केवल धर्म प्रचार है।

२—प्रचारार्थ बाहिर भ्रमण करते हुए यह अनुभव हुआ है कि पाठक आरम्भ में कुछ कठिनता प्रतीत करते हैं। इस विषय में यह निवेदन है कि पढ़ते समय वेदान्त से अपरिचित पाठक,

पहिले द्वितीयाध्याय का, फिर प्रथमाध्याय के द्वितीय उच्छ्वास से लेकर उसके पीछे उसके पहिले पृष्ठों का पाठ करें। इस प्रकार करके पुनः पुस्तक का पारायण करें और साथ २ टिप्पणियां भी पढ़ते जावें। लेखक का उद्देश्य शास्त्रीय विचारों को सरल कथा के बहाने से लोगों तक पहुंचाना है। इस लिये केवल कथा की तरह पढ़ने से वह लाभ नहीं हो सकता, जो एक २ प्रसंग पर विचार करके होने की आशा है। आर्य लोग इस प्रकार स्वयं लाभ उठाते हुए, अपने साप्ताहिक अधिवेशनों में कथा वार्त्ता करने के योग्य भी बन सकेंगे। समयाभाव के कारण कई परिवर्त्तन चाहता हुआ भी मैं नहीं कर सका। यदि जनता पूर्ववत् ग्रन्थ को अपनाती रही, तो अगली आवृत्ति में वह कार्य भी हो जावेगा। इस संस्करण को शुद्ध करने तथा छपवाने का श्रेय आश्रम के पुराने विद्यार्थी और इस समय 'आर्य जगत्' के सहकारी सम्पादक पं० देवदत्त जी शास्त्री विद्याभास्कर को है, जिन्हों ने अपना बहुमूल्य समय देकर मुझे और मेरे पाठकमण्डल को आभारी बनाया है।

वैदिकाश्रम, लाहौर
१ कार्त्तिक, १९८२.

विश्वबन्धुः

—:o:—

समर्पण

ऋषिवर ! न यशः किं श्वेतमेतत्तवास्ति,
अमतिरपि यदस्मिन्नस्मि कार्ये प्रवृत्तः !
गुरुचरणयुगास्थां धारयित्वा त्वयीत्थं,
तव जननशताब्द्या उत्सवं स्मारयामि ॥१॥
विजयतां दयानन्दो वेदः पुनर्विराजताम् ।
प्रीतिमन्तः सदा विश्वे मिथो बिभ्रतु बन्धुताम् ॥२॥

समर्पण

ऋषिवर !

परमात्मा का धन्यवाद है । आज उसकी अपार दया तथा तुम्हारे अनथक परिश्रम से प्राचीन आर्यों के निवास-स्थान परम पुनीत आर्य्यावर्त्त में पुनः जनता की आर्य-धर्म तथा वेद-विद्या, की ओर रुचि बढ़ रही है। तेरे तीव्र तप, तेरी अथाह विद्या, तेरे अखण्ड व्रत, तेरी अप्रतिहत समाधि का ही यह फल है कि मुझ सरीखे तेरे दासानुदास, साधारण व्यक्ति को भी यह उत्साह प्राप्त हुआ है कि तेरी प्रथम जन्म-शताब्दी के इस मंगल महोत्सव पर वैदिक धर्म के परम पावन सन्देश को तेरे भक्तों के कानों तक पहुंचावे । भगवन् ! इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करो, और अपनी दया का पात्र बना कर, अपने आनन्द से आनन्दित करदो। स्वामिन्! तुम्हारी जय हो !!

विश्वबन्धुः

विषय-सूचिका

———:o:———

वेद सन्देश में पठित मन्त्रों की अकारादि क्रम से सूची ।

अकारादि क्रम से विषय सूची ।

अथ तत्त्व-सन्देशो नाम

प्रथमोऽध्यायः

* ओ३म् *

प्रभु वन्दना ।

जगद्वन्द्यं नमस्कृत्य ज्ञानराशिं स्वयम्भुवम् ।
क्रियते वेदसन्देशो लोकानां हितकाम्यया ॥१॥

अर्थ—प्रभो ! तुम ज्ञानमय तथा स्वयम्भू हो । सारा संसार तुम्हें पूजता है । महाराज तुम्हारे चरणों में मस्तक झुका कर, मनुष्य-मात्र के हितार्थ मैं अब वेद—सन्देश नामक पुस्तक के लिखने में प्रवृत्त होता हूं ॥ १ ॥

उपासितो यो मतिमद्भिरेव,
कदाचिदाप्तस्त्वतिदुर्लभस्तैः ।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तः,
स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ २ ॥

अर्थ—प्रभो, कोई २ मेधावी, योग—युक्त महात्मा ही तुम्हें पा सकता है । जब तक सारी वृत्तियां निरुद्ध हो कर, एक तुम्हारी ही लौ न लग जावे, तुम्हें हम प्राप्त नहीं कर सकते । हे विभो ! इस पुरुषार्थ को तुम ही शान्ति से निर्विघ्न समाप्त कराइयो ॥ २ ॥

श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रतिपादितो यो,
जगन्नियन्ता जगदेकनीडम् ।

उपास्यदेवः शरणं प्रकृष्टं,

स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ ३ ॥

अर्थ—भगवन् ! सब वेद तथा शास्त्र आप का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। आप सब संसार के नियामक तथा एकमात्र आश्रय हैं। आप ही उपास्य देव तथा उत्तम शरण हैं। आप ही इस प्रयत्न में निर्विघ्नता पैदा करें॥ ३॥

वशे त्रिलोकीं दधतं वरेण्यं,

धियाधिगम्यं यमुपास्य देवाः।

पदे परार्ध्ये विमला निषेदुः,

स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ ४ ॥

अर्थ—महाराज ! आप तीनों लोकों को वश में रख रहे हैं। आप प्राप्त करने योग्य तथा सूक्ष्म दृष्टि से अधिगत होने वाले हैं। महाराज ! विद्वान् सज्जन आप की उपासना करके ही विमल हो जाते तथा मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। प्रभो ! आप ही इस यत्न को सफल करें॥ ४॥

उपास्य यं मुक्तसमस्तबन्धं,

विशुद्धरूपं मुनिवर्य्यधीराः।

भवन्ति पूता अथ लब्धलभ्याः,

स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ ५ ॥

अर्थ—जगदीश ! आप सब बन्धनों से मुक्त तथा विशुद्ध-स्वभाव हैं। मुनीश्वर लोग आप की आराधना से ही पवित्र

तथा सिद्ध-मनोरथ हो जाते हैं। आप ही इस कार्य में सहायक हो ॥ ५ ॥

प्रचण्डतापः प्रततं प्रकाशं,
करोति नित्यं रविचन्द्रयोर्यः ।
स वेत्ति सर्वं न च तस्य वेत्ता,
स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रभो ! आप ही अपने प्रखर प्रकाश से नित्य सूर्य तथा चन्द्र को प्रकाशित कर रहे हो ! आप से कुछ छिपा हुआ नहीं, पर आप को कोई पूर्णतया जान नहीं सकता । आप ही इस शुभ आरम्भ में मुझे प्रोत्साहित करें ॥ ६ ॥

चराचरात्मा हृदिसंस्थितोऽपि,
यो ब्रह्मपुर्यां दहरे सरोजे ।
चिरात्मसिद्ध्याऽनुभवैकवेद्यः,
स शान्तिमात्मेह तनोतु भूयः ॥ ७ ॥

अर्थ—भगवन ! आप जड़ तथा चेतन के प्राणाधार हो । आप हृदय-मन्दिर में होते हुए भी ब्रह्मपुरी के मध्य में सूक्ष्म कमल में हो (दृष्टिगोचर नहीं हो) । चिर पर्य्यन्त आत्मसिद्धि तथा अनुभव द्वारा तुम्हारे दर्शन हो सकते हैं । महा महिम ! तुम्हारी ही प्रेरणा से यह कार्य्य आरम्भ होता है । तुम्हारी ही सहायता से पूर्ण हो ॥ ७ ॥

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

——:o:——

विषयावतरणिका ।
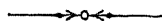
सभ्य संसार के इतिहास में वैदिक-सभ्यता बड़ी पुरानी है। वैदिक साहित्य सब से पुराना साहित्य है। जिस समय यहां पर वेद के ज्योतिस्स्तम्भ से प्रकाश की रश्मियां निकल कर सिन्धु और सरस्वती के विमल जल-तल के ऊपर चिलबिल २ करती थीं, और उन के तीर पर वसने वाले लोग जल के साथ ही साथ ज्ञानामृत का भी पान करते थे, उस समय अभी शेष संसार के ऊपर प्रलय-काल के गाढ़ अन्धकार का ही अकण्टक साम्राज्य छा रहा था।

यह ठीक है। वेद ज्ञान का प्रथम उद्गार है। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं है कि आज कल के सुशिक्षित, विज्ञानी कला कौशल में निपुण, सर्वांग पूर्ण लोगों के लिए वेद में सब विद्याएं मौजूद हों। हम किस लाभ को लक्ष्य बनाकर वेदाध्ययन के लिए इतना कष्ट सहें और आपत्तियों का सामना करें? आज मनुष्य निर्जीव जगत् का शासक बन रहा है। एक एंजन की पीठ पर बैंठ कर, दूसरे एंजन सिग्रेट का धुवां मुख और नासिका के छिद्रों में से फप २ निकालता हुआ मनुष्य किस उद्देश्य से अपना मुंह पीछे की ओर मोड़े? अपने पूर्वजों के गो-यानों, अश्व-यानों के वर्णन में, नदियों, और पर्वतों के स्तोत्रों में, भेड़ बकरियों के माहात्म्य के गीतों में आज हम अपने लिये क्या ढूंढ सकते हैं? यदि कोई अच्छी बात निकली भी, तो भी यह वैसे

ही व्यर्थ परिश्रम होगा जैसे सारा दिन पहाड़ खोद २ कर अन्त में चूहा हाथ लगे और मनुष्य यह कहकर सन्तोष धारण करले कि अच्छा है लाज तो रह गई ।

नहीं, यह बात नहीं है । वास्तव में मनुष्य-समाज की उन्नति मोटरों की दौड़ से या बिजली की चमक और भिन्न २ प्रकार के फ़ोनों के आश्चर्य-जनक चमत्कारों से मापना कठिन है । मनुष्य सदा से अपनी २ प्रकृति के अनुसार प्रकृति का भोग करते आये हैं, ज्यों २ अधिक बहिर्मुख होकर, वह अपनी तृष्णा को विशाल करते हैं, प्रकृति-देवी भी अधिकाधिक हाव भाव के जटिल जाल का विस्तार करती हुई, एक ओर से तो उन्हें खींचे चली जाती है, और, दूसरी ओर से ज्यों ही वह आगे बढ़ते हैं वह भी आगे ही आगे दौड़ी चली जाती है । सैकड़ों नये २ मार्गों पर सहस्रों नये २ दृश्यों को देखकर मनुष्य चकित होजाते हैं । अन्त में कोई किसी में और कोई किसी में रह जाता है ।

प्रत्येक युग में धन से प्रेम करने वाले और विद्या से उदासीन, विद्या से प्यार करने वाले और सम्पत्ति से विमुख तथा धन और विद्या दोनों की ओर झुके हुए लोग रहा ही करते हैं । एक समय में एक समुदाय बलवान् बन जाता है और दूसरे समय में दूसरे प्रकार के लोगों की बारी आती है । इस बात को ध्यान में रखकर जब हम इतिहास के पन्ने पलटते हैं, तो सर्वत्र समय २ पर भिन्न २ तरंगें उमडती हुई दीख पड़ती हैं । इन के बहाव में ही संसार बहा करता है । दूसरे शब्दों में

इसी बात को यूं कह सकते हैं कि जन-समुदाय के सम्मुख आदर्श बदल २ कर रक्खे जाते रहते हैं।

संसार की रचना के अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी परिवर्तन-प्रिय है। एक आदर्श के पीछे दूसरे का पर्याय आता है। यही कारण है कि संसार चक्र में भिन्न २ चक्र चल कर प्रत्येक विचार को जनता के सामने आने के लिये एक से अधिक वार अवसर मिलता है। इन भिन्न २ विचारों के साथ सारी परिस्थितियां भी नये सिरे से प्रकट होती हैं। यदि विशेष बाधाएं उपस्थित न हों, तो पूर्ण विश्वास से कहा जाता है, कि उसी प्रकार की घटनाएं भी होती रहती हैं। इसी नियम को विद्वान् लोग इतिहास के पुनरावर्त्तन के नाम से स्मरण करते हैं।

आज कल विकास-वाद् (Evolution) का सिद्धान्त विजयी हो रहा है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो, इसी के रंग में रंगा हुआ विद्वानों के मुखारविन्द से निकलता और सुनने वालों के कानों में पड़ता है। सब विद्यायें और सब कलाएं इस का गुण गान कर रही हैं। सब दर्शन और सब विज्ञान इस के पांव की ओर माथा झुकाये हुए नीची आंखों ताकते हैं। सब मत और सब सम्प्रदाय, गणों के गण, इस के चारों ओर घेरा डाले पड़े हैं। प्रत्येक जीवन-वर मांग रहा है। सिर रगड़ २ कर और इस की पाद-रज मस्तक पर रमा २ कर, इस देवों के देव के आदेश की बाट जोहता है। प्रत्येक करुण विलाप करता हुआ सुनाई पड़ता है।

"हे देव ! कृपा करना, मेरा सब मान गुमान तुम्हारे प्रमाण-पत्र के बिना मुरझाया जाता है। यह सिर का हिलाना बन्द करो, नहीं तो मेरी ग्रीवा पर एक बाल के सहारे लटकती हुई तीक्ष्ण असि-धारा अब पड़ी कि अब पड़ी। मेरे प्राण संकट में हैं। मेरी आँखें पत्थराई जाती हैं। मेरा जी गिरता और दिल धड़कता है। कानों में सांए २ की शुष्क ध्वनि और अंगों में शिथिलता बढ़ती चली जाती है। मेरा नाक ठण्डा पड़ रहा है। कर आगे कर २ मेरे मन्द श्वास को मेरे बन्धु-गण देख भाल रहे हैं। गले में घिग्घी बन्ध गयी है। हा, प्रभो ! मैं डूबा जा रहा हूँ। बचाइओ २, मेरे सर्वस्व तुम हो। जीवन तुम हो। माई बाप तुम हो। तुम्हारे एक शब्द में मेरी जीवन-घुट्टी है। दया करो, दया करो।" ये शब्द हैं जो प्रत्येक के मुँह से काँपते हुए निकल रहे हैं। यह देवता सुगमता से प्रसन्न होने वाला नहीं।

थोड़े से शब्दों में इस सिद्धान्त का सार यह है। संसार उन्नति-शील है। प्रत्येक विभाग में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। क्या प्राकृतिक और क्या मानसिक, सामाजिक अथवा आत्मिक जीवन के अंगों में कल से आज और आज से आने वाला दिन आगे है। पशु, पत्तियों का शरीर मनुष्य के शरीर का एक प्रकार से पूर्व-रूप है। काल-क्रम से परि-स्थिति के परिवर्त्तन हो जाने के कारण, शीतोष्ण के प्रभाव से अंग प्रत्यंग घट वढ़ कर, झड़ कर और बढ़ कर, लम्बे, छोटे और गोल हो कर, अर्थात् भान्ति २ के परिवर्त्तनों में से गुज़रते हुए वर्त्तमान भिन्न २ जातियों के देह का परिणाम (Develop-

ment) हुआ है। मानुष-काया सब से बढ़ कर सूक्ष्म, अतएव उत्क्रान्ति-युक्त है। मछली और मैंडक के, हाथी और सिंह के, भेड़ और बकरी के, गौ और घोड़े के, कुक्कड़ और मोर के स्मारक कुछ न कुछ अंश इस में विद्यमान हैं।

आरंभ में मनुष्य का मस्तिष्क अनुभव तथा शिक्षा के अभाव के कारण बहुत दूर की न सोच सकता था। शनैः २ उस की सार-ग्रहण करने वाली सूक्ष्म शक्तियां पदार्थों के अन्दर घुसने लगीं। पक्षियों की पीं २ और चीं २ से, भेड़ बकरियों की मैं २ से, गौ और भैंस की बां २ से, जंगल के सूखे पत्तों की सर २ से, झाड़ियों और वृक्षों के झुण्डों के झंझावात के प्रकोप से पैदा होने वाले झंकार से, बादलों की गरज से और बिजली की कड़क से बोलना सीख कर, उस ने लाखों भेदों में विभक्त बोलियों और सहस्रों भिन्न २ भाषाओं का क्या विस्तृत-ढांचा बना लिया है! मैं और तू के शब्दों के कोष का विस्तार कोसों में भी न समाने वाले वाङ्मय के रूप में हो गया है और नित्य बढ़ता चला जा रहा हैं। अच्छी २ कवितायें, दिल बहलाने वाली और शिक्षा देने वाली कथायें, बड़े २ मनोरञ्जक उपन्यास, नये से नये नाटक और उत्तमोत्तम सार-वस्तु से भरपूर पुस्तकों की मालाएं आज मनुष्य के साहित्य-सदन की शोभा को चार चान्द लगा रही हैं।

पहिले पहिल मनुष्य सूर्य्य और चान्द को देखकर आश्चर्य्य करता था कि तेज़ और शीतल प्रकाश के गोले कहां से आ जाते हैं। प्रातः और सायं की लाली, पूर्णमासी की चान्दनी

से उज्ज्वल तथा अमावस्या के अगाध अन्धकार से ढांपी हुई रात का दृश्य, नाचते और कूदते हुए तारागण की सुन्दरता, उस की हैरानी के लिये पर्याप्त सामग्री थी। विशाल पर्वतों पर ऊंचे २ वृक्ष, गड़ २ करते हुए पर्वतों के झरने, ठाठें मारती हुई नदियां; उमड़ २ कर आती हुई लहरों के उभरते हुए सुफ़ेद झाग के रूप में, मानो, मन के वेग को प्रकट करता हुआ समुद्र—यह पदार्थ उसे भयभीत कर देते थे। शनैः २ उस ने बाहर की विशालता में गंभीरता को धारण करना सीखा है। अब वह पर्वतों के सामने हाथ जोड़ने के स्थान पर, उन में से सुरंगें निकालता और सड़कें बनाता है। नदियों के कवित्त नहीं गाता, उनकी छाती पर पुल बनाकर हज़ारों और लाखों मन की गाड़ियां चलाता है। आज दार्शनिक बुद्धि, विज्ञान के सहारे स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से अदृश्य तक जा पहुंची है। पत्थर से लेकर मनुष्य तक सब एक ही लड़ी में पिरोये जा रहे हैं। जड़ चेतन का विभाग उड़ गया है।

ऐसे ही धार्मिक तथा सामाजिक जीवन आरम्भिक दशा से निकल कर विकास को प्राप्त होरहा है। प्रथम जहां आत्मरक्षा ही एक मात्र विचार था, वहां अब न्याय, अन्याय का विवेक भी साथ मिल रहा है। पहिले जहां प्रत्येक व्यक्ति अपनी २ आवश्यकताओं को स्वयं ही पूरा कर लेता था, वहां अब सामाजिक जीवन इतना ओत प्रोत होरहा है, एक का निर्वाह दूसरों के साथ इतना जुड़ गया है, कि लाखों मनुष्य एक २ स्थान पर मिल कर रहते और नगर बसाते हैं।

वेद संसार में सब से पुराना पुस्तक है। वैदिक सभ्यता आरम्भिक सभ्यता है। उसी अवस्था को पुनर्जीवित करने का यत्न सर्वथा व्यर्थ है। यह वन में रोनेके समान है। सुनने वाला कोई नहीं। इस का समर्थक होना अपनी मूर्खता का प्रकाश करना है। वैज्ञानिक उन्नति के स्थान पर जड़ जगत् की पूजा और सादा पशुपने का जीवन कौन विद्या-प्रेमी पसंद करेगा? अतः वेद के उद्धार करने का भाव सार-रहित और बलहीन होने के कारण छोड़ देना चाहिए।

विकासवाद एक आधुनिक विचार है। इस से अत्यन्त पुराना एक और वाद है। इसे हम ह्रास-वाद के नाम से पुकार सकते हैं। वह सब युगों में सब जातियों के साहित्य तथा वर्तमान व्यवहार में पाया जाता रहा है। जब कभी किसी मनुष्य से यह कहा जाता है, कि अमुक कार्य्य तो बड़ा ख़राब है, न्याय से शून्य तथा अत्याचार से युक्त है, इस का परित्याग करो, तो वह क्या उत्तर देकर अपना पल्ला छुड़ाता है—'यह रीति मेरे पूर्वजों की है'। बाप, दादा और पूर्वजों के नाम पर मनुष्य ने अपने सन्तान और भाईयों को बेचा, अपने जैसों को अपने विनोद के लिए नाना प्रकार के दुःखों और क्लेशों का निशाना बनाया, बेबस, जिह्वा-रहित, निर्दोष पशुओं और पक्षियों को सताया और लाखों बेहूदा हंसी दिलाने वाली, कपोल-कल्पित, मिथ्या लीलाओं को माना और मनवाया है। जहां प्रकृति में नित्य गति पायी जाती है, वहां इस के साथ उसे विशेष नियम में रखने के लिये एक विरुद्ध गुण भी पाया

जाता है। यह है परिवर्तन में अरुचि (Inertia)। भौतिक संसार में इस के अनेक परिणाम हैं। सामाजिक जीवन में भी चरितार्थ होकर यह समाज की बंधी हुई मर्यादाओं को अति शीघ्र बदलने से बचाता है। हमारा भोजन, हमारा घरेलू जीवन, हमारा रहन सहन तथा पहरावा—सब इसी नियम के अधीन होकर चिरकाल तक एक ही सीमा के अन्दर २ घूमते रहते हैं। साहित्य में बे-लगाम लेखकों की आपा-धापी इसी से रुकती है। कर्म काण्ड तथा रीति रिवाजों में ढीलेपन का यही एक इलाज है। इस वृत्ति का यह मानसिक प्रभाव होता रहा है कि प्रत्येक जाति अपना सुनहरी युग सदा पीछे ही देखती रही है। प्रत्येक मनुष्य को अपनी बाल्यावस्था के वर्णन में विशेष रस आया करता है। अस्सी वर्ष का बूढ़ा भी अपने बचपन की चञ्चलता को स्मरण करके एक बार तो आनन्द के आंसुओं से डाढ़ी के सुफ़ेद बालों को तर कर देता है। इसी प्रकार सब जातियां अपने आरम्भिक इतिहास के पर्यालोचन में आनन्द अनुभव किया करती हैं। उन्हें प्राचीन शब्दों में दिव्य गान सुनाई देता है। पूर्वजों की मूर्त्तियों में देवता और उन के मकानों के खण्डरों में विशाल स्वर्ग के दृश्य दिखाई पड़ते हैं। इस विचार के अनुसार प्रत्येक विषय में पुरानी मर्य्यादा ही प्रमाण है। अच्छी हो या बुरी, हर बात में उस मर्यादा को तोड़ना बुरा समझा जाता है। आज कल मनुष्य बहुत गिर गया है। धर्म, कर्म का कोई बल नहीं रहा। सामाजिक सम्बन्ध की शुद्धि दूर भाग गयी है। परस्पर विश्वास का

गन्ध भी नहीं बचा। शरीर, मन और आत्मा सभी दुर्बल हो गये हैं। सारी काया पलट गयी है। क्या कहें, कोई रहने योग्य समय नहीं रहा। दिन पूरे कर रहे हैं,—इस प्रकार की अनेकों बातें इस ह्रास-वाद के बहाव में बह कर मनुष्य किया करते हैं।

वस्तुतः दोनों वादों में थोड़ा बहुत सत्य पाया जाता है। स्थिरता जगत् में नाम को नहीं। आज जो आकाश में स्वेच्छा-चारी है, वही कल लोहे के पिञ्जरे में बन्द हो जायगा। जैसे पहिये के भिन्न २ भाग ऊपर नीचे बदलते रहते हैं, वैसे ही मनुष्य के व्यक्ति-गत तथा समाज-गत जीवन में भी उतार चढ़ाव आते रहते हैं। इस लिये बुद्धिमान् वह नहीं, जो प्रत्येक बात में प्रत्येक क्षण में पूर्व की अपेक्षा उन्नति ही उन्नति समझता है, और न ही वह सियाना समझना चाहिये जो वर्त्तमान की सब बातों में दोष ही दोष देखता है। भूतकाल का निरादर करना अथवा उसकी चिता पर रोना, एक जैसी मूर्खता है।

किसी समय एक विचार प्रबल है और दूसरे समय दूसरा विचार बल पकड़ लेता है। इस प्रकार से एक चक्र सा बना रहता है। जैसे कवि कालिदास अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नाम के ग्रन्थ की भूमिका में कहते हैं, कोई वस्तु इस लिये ग्रहण मत करो क्योंकि वह प्राचीन है और न ही दूसरी का अपमान करो क्योंकि वह नई है*। भूगर्भ-विद्या के विद्वानों ने

* पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तःपरीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

धरातल को खोद २ कर मनुष्य-जाति के पूर्वजोंके बनाये हुए हैरान करने वाले पदार्थ निकाल २ कर विकास-वादकी बाल की खाल निकालने वालोंका मुँह बन्द कर दिया है। प्राचीन लोगों के शिल्प, कला-कौशल तथा विद्या के चमत्कारों के प्रमाणों के सामने तो इस सिद्धान्त का सारा बखेड़ा एक मखौल ही जचने लगता है। पुरानी कविता में वह रस टपकता है जो आजकल के अति-प्रसिद्ध कवियोंके शब्दों में भी शायद ही देखनेमें आता हो। पुराने दर्शनकारों की बारीकियां, कवि-सम्राटों के वाणी-विलास, व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र के बनाने वालों की भाषा—विज्ञान में निपुणता, शिल्पियों के शिल्प, महात्माओं की तपस्या और आत्मिक बल के वृत्तान्त—यह बातें देख २ कर इसी परिणाम पर मनुष्य पहुँचता है कि जहां तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उन्नति के आदर्श में लाखों वर्षों से कोई विकास नहीं हुआ।

दूसरे विचार में भी इसी प्रकार अत्युक्ति से काम लिया गया है। कोई पदार्थ पूर्ण नहीं। गुण तथा दोष की परीक्षा कर, गुण का ग्रहण तथा दोषका त्याग करना चाहिये। प्रत्येक सभ्यता में, जो संसार में कुछ काल के लिये राज्य करती है, कुछ गुण पाए जाते हैं। अन्यथा वह संसार में क्षण भर भी न ठहरने पावे। किसी सभ्यता की उन्नति की परीक्षा इस बात से करनी चाहिये कि उसके द्वारा कितनी जनता ने कितना सुख पाया है। अतः वेद का पुनरुद्धार इस लिये मत करो कि वह अति प्राचीन है। न ही उसका इसलिये अपमान तथा त्याग करो कि अब हम बहुत अधिक उन्नत हो गये हैं। आने वाले प्रकरणों में यह दर्शाने

का यत्न किया जावेगा कि वेद अपनी शिक्षा तथा विचारों की उत्तमता के आधार पर ही ग्रहण करने योग्य है।

जीवन क्या है? संसार क्या है? हमारा इससे क्या सम्बन्ध है? हमारा जीवनलक्ष्य क्या है और हम कैसे अपने मनोरथ की सिद्धि कर सकते हैं? ये प्रश्न हैं, जो सब शास्त्रों, दर्शनों, मतों और सम्प्रदायों ने उठाये हैं। सबने अपनी २ समझ के अनुसार उत्तर दिया है। आओ, इनके विषय में वेद से पूछ देखें कि उसका क्या सन्देश है। दूसरे भिन्न २ विचारों के साथ मिलाते हुए, वेद के विचार भी जब खुले प्रकाश में हमारी आंखों के सामने आवेंगे, तब ही वस्तुतः उसके गौरव की आधार-शिला फिर पक्की जम सकेगी। हमें इस बात में विश्वास है कि यदि पाठकगण ध्यान पूर्वक लेखक के मन्तव्य के अनुसार उसके शब्दों को सरलता से विचारते चलेंगे, तो जब वह पुस्तक को समाप्त करके छोड़ेंगे, उस समय उनका आत्मा भी इसी तरह के और वेद-सन्देश को दूसरों को सुनाने के लिये उन्हें प्रेरित कर रहा होगा। इस आशा और इन शब्दों के साथ हम प्रकरण को आरम्भ करते हैं।

भूमिका

(प्रथम प्रकरण)

वादि-विनोद* ।
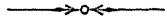
एक बड़े नगर के कोने पर छोटे से मकान में एक महात्मा निवास किया करते थे। उन्हें बहुत कम लोग जानते थे और वह भी नगर में बहुत कम ही जाया करते थे। हां, प्रायः यह देखा जाता था कि सायं समय कुछ सत्संगी उनके पास आकर शंका-समाधान किया करते थे।

एक दिन एक जिज्ञासु किसी दूर स्थान से चलकर उस कुटिया के द्वार पर पहुंचा। जब उसने किवाड़ को खटखटाया, अन्दर से आवाज़ आई 'कौन हो'? उस युवक का हृदय थर्रा गया। उस शब्द में कोई अनोखी गंभीरता उसे सुनाई पड़ी। एक क्षण ठहर कर, नए पैदा हुए २ विश्वास से पूर्ण होकर, उसने धीमे स्वर से कहा, 'महाराज! यही जानने की इच्छा से तो आपके पास पहुंचा हूं, कि मैं कौन हूं। द्वार खुल गया। महात्मा की आंख पर जब उस विनीत जिज्ञासु की दृष्टि पड़ी, तो उसे उसने प्रसन्नमुख और मुसकराते हुए पाया। चार पांच व्यक्ति

---

* पाठक ध्यानपूर्वक गुरु तथा जिज्ञासु के सच्चे स्वरूप को इस प्रकार से समझें।

और बैठे थे। महात्मा ने हाथ के इशारे से उसे भी अपने पास बिठा लिया। कुछ प्रसंग चला हुआ था, उसके समाप्त होने पर पहिले आये हुए लोग जाने ही लगे थे कि महात्मा ने उन्हें ठहरा कर नये आये हुए को अपना प्रश्न पूछने का आदेश किया। जिज्ञासु ने उसे नमस्कार किया और वह अपना आशय यूं प्रकट करने लगा।

जि०-महाराज! यह जीवन क्या है? मृत्यु क्या है? यह संसार क्या है? हम नित्य देखते हैं, आनकी आन में प्राणी चल बसते हैं*। मैं इन बातों पर विचारता हुआ घबरा गया हूं। मुझे न तत्त्व का पता चलता है और इसी लिए न ही किसी कार्य्य में रुचि पैदा होती है। जब मरना ही है, तो फिर जीवन की इच्छा ही क्यों की जावे? पर सौ वार दबाने पर भी यह नहीं हटती†।

महा०-यह प्रश्न कठिन और लम्बा है। बड़े २ विद्वानों ने भी इस में गोते खाए हैं‡। और कुछ पूछो, ताकि संसार में कुछ आनन्द भी ले सको।

जि०-भगवन्! जब विद्वानों की भी इस विषय में गति नहीं है, तो आप जैसे अनुभवियों के पास आकर भी यदि मैंने इसे न

---

* अद्यैव हसितं गीतं पठितं यैः शरीरिभिः।
अद्यैव ते न दृश्यन्ते कष्टं कालस्य चेष्टितम्॥

† अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ (महाभारत)

‡ देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
कठ० १।१।२१॥

पाया, तो मेरा जीना निरर्थक है*। मेरे सिर पर तो मृत्यु का भूत सवार है। मुझे इस दशा में किसी और बात में रस भी तो नहीं आता†।

महा०–यह बड़ा सूक्ष्म विषय हैं। बहुत कम लोग इसे समझ और समझा सकते हैं‡ अतः सबको इसमें रस भी नहीं आता। क्यों लोकेश जी§! आप इस जीवन-समस्या के विषय में किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहते हैं?

लोके०–महाराज! मुझे तो यह प्रतीत होता है कि सूक्ष्म २ कह कर राई का पहाड़ बना लिया गया है। बात तो बड़ी सीधी और स्पष्ट है। प्रत्यक्ष संसार में क्या दिखाई देता है? सब लोग किस नियम का पालन करते हैं? अपना तथा अपने बन्धुओं का उदर पूर्ण करना। मनुष्य ने अपना पेट भरने का जो साधन हाथ में ले लिया है, वह उसी में दिन रात लगा रहता है। यदि सुखी

---

* देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥
(कठ० १।१।२२॥)

† अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ कठ० १।१।२८॥

‡ श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलोऽनुशिष्टः॥
कठ० १।२।७॥

आश्चर्य्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्य्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्य्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ गीता २।२९॥

§ तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो इस लोक के सुख को ही परम-लक्ष्य मानता हो।

होता है तो कुछ समय के लिए मित्रों के साथ गपोड़े हांक लेता है और फिर बिस्तरे पर फैल जाता है और खुर्राटे लेने लग जाता है। और, यदि परिश्रम सफल न होने से, आमदनी कम और खर्च के अधिक होजाने से; चद्दर के दोनों सिरे मिलते नहीं, तो चिन्तातुर रहता है। सोते, जागते ठण्डे स्वास भरता है और हरदम हाय २ करता हुआ हृदय के भाव को प्रकट करता है। प्रथम तो निद्रा उससे दूर ही रहती है, और, यदि कभी आंख लग जाती है, तो भयानक स्वप्न उसे आ दबाते हैं। बात एक ही है। दोनों रूप एक ही चित्र के हैं। न सदा सुख रहता है और न सदा दुःख रहेगा। दशा, रथ के पहिये के समान ऊपर नीचे होती ही रहेगी* ! चिन्ता पिशाची को दूर करो। इतने व्याकुल होकर निराशता के गढ़े में क्यों पड़े हो ! खाओ, पीओ और आनन्द करो। अपने पास न हो, तो ऋण लेकर भी चैन लूटो†। यह शरीर बार २ कहां ? मृत्यु तो खड़ी ही है‡। एक वार भस्म हुए पीछे फिर यह आनन्द छूट ही जावेंगे‡। महाराज ! आप बुरा तो मना रहे हो ? मुझे यही एक खुला मार्ग दिखाई दे रहा है।

महा०—नहीं, प्यारे, मैं खुले विचार को कभी बुरा नहीं मानता।

---

* सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्तते ॥ १ ॥
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ २ ॥

† यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणङ्कृत्वाघृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

‡ मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ (कालिदासः)

पर यह सारा चित्र तभी तक मनको रिझा सकता है, जब तक वास्तव में संसार का कोई भार अभी ऊपर नहीं पड़ा। प्रत्येक प्राणी सुख ही चाहता है। कौन चाहता है कि मुझे दुःख मिले? पर इस चाह के पूरा करने का उपाय तुम्हारे कहने के अनुसार चैन लूटना नहीं हो सकता। नहीं तो, वह लोग जिनके पूर्वज सात पीढ़ियों तक भी न समाप्त होने वाली सम्पत्ति छोड़ गये और उन्हें कमाने की चिन्ता से मुक्त कर गये, बड़े आनन्द में होने चाहियें। पर क्या बात ऐसी है? सच यह है कि केवल पेट-भगवान की आराधना से सुख नहीं बल्कि दुःख मिलता है। वैद्यों का यह प्रसिद्ध अनुभव है कि भूख से इतने लोग नहीं मरते जितने अधिक ठोसने से मरते हैं। शरीर को पुचकार २ कर रखने वालों की नाड़ी भी रुक जाया करती है। जब जन्म-सिद्ध धनवानों की यह अवस्था है, तो उनका तो कहना ही क्या, जो कोड़ी के तीस २ बिकते हों!

अरे भोले भाई! उन्हें तो पूछता ही कोई नहीं। कभी सोचा भी कि ऋण कैसे प्राप्त होता है? देखो, ऋण उन्हें दिया जाता है, जिन में कभी लौटाने की शक्ति दिखाई दे। जो मुझ, तुझ और सभी से लेकर, चौक में बैठ, खा पीकर, मूछों पर ताओ देकर बिना डकारे ही चट करजाने वाला हो, उसे ऋण नहीं मिल सकता। दो चार वार ही लोग उसके फँदे में भले फँस जावें। इसलिए तुम्हारी बात जगत् में चल ही नहीं सकती।

लोके०-महाराज! आदर्श ऐसे ही होते हैं। उनको आचरण

में लाने का यत्न करते रहना चाहिये। आपने भी तो सौ बार ऐसा उपदेश किया है।

महा०-बोले, तू दूर की सोच नहीं सका। तनिक ध्यान तो कर, संसार कैसे चल रहा है। सांसारिक सुख साधारण जनों का लक्ष्य होता है। पर केवल शरीर और इन्द्रियों में ही रमण करने से दुःख ही दुःख पैदा होता है। तुम्हारी बात तब सच्ची हो जब ऐसा करते हुए कोई रोगी न हो, किसी को मन की व्यथा न सतावे, कोई सन्तानहीनता तथा अन्य भयंकर क्लेशों का शिकार न बने। यदि तुम्हारा उपदेश अक्षर २ माना जावे, सारा जगत् लफंगों, गुण्डों, व्यभिचारियों, चोरों, डाकुओं, चरसियों, भंगडों, शराबियों और कबाबियों से भर जावे। क्या यह प्रजा तुम्हें भाती है? सब लोग ऐसी सृष्टि से छुट्टी चाहते हैं। सज्जन उनको सुधार कर शान्ति स्थापित करना ही बड़ा धर्म समझते हैं। आप सुनाइये, उपरामजी* आप क्या विचारते हैं?

उप०-महाराज! मैं जब जीवन की समस्या पर विचार करता हूं तो मुझे तो सारा संसार दुःखमय ही प्रतीत होता है। कभी रोग के रूप में, कभी मृत्यु के रूप में, निर्धनता के रूप में और कभी मित्र पुत्र, स्त्री तथा अन्य बान्धवों के विश्वास-घात के रूप में, अर्थात् यह दुःख समय२पर भिन्न२स्वांगोंको भरता हुआ हमें तपाता रहताहै। अतः इनसे छुटकारा पानाही परम पुरुषार्थ है।†

---

*अर्थात् जो जगत् से हटकर निर्वाण को लक्ष्य बना चुका हो। यहां से बौद्धसम्प्रदायों की ओर संकेत आरम्भ होता है।

† अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुपार्थः॥ सांख्यसूत्र १।१

जि०-उपरामजी, आपने मेरे मन की जानी। कृपया उपाय भी सोचकर बतावें।

उप०-भाई, सोचना क्या है! तृष्णा को मारदो। घर बारको छोड़दो। गेरवे बाने धारण करो। संसार से मुँह मोड़लो। सारे सम्बंध तोड़दो। एकान्त वन में निवास करो। मेल मिलाप को बन्द करो। खाने, पीने के विषय में उदासीन होजाओ। तपस्या और कठिन व्रतों से काया को सुखाकर, मनको वश में करो। बाहिर की प्रवृत्ति को त्याग करके, अन्दरकी घुड़-दौड़ को भी बंद करो। अपने आपको भी भुलादो। दीपक बुझता है, तो बुझनेदो यह निर्वाण-पद है। इसके आश्रय के विना तो भव-सागर में लहरों के थपेड़ों की मार ही मार है।

जि०-भाई जी, आपका उपदेश तो बड़ा सरस तथा शान्ति-प्रद है। पर मुझे कुछ ऐसा सन्देह प्रतीत होता है, कि इन बातों की नींव बहुत पक्की नहीं है। इच्छा अथवा काम का प्रत्येक आत्मा के साथ नित्य संबंध रहता है। इसके विना तो आँख भी नहीं झपक सकती।

उप०-वाह जी वाह! तुम्हारा कथन तो अत्युक्तिमात्र ही प्रतीत होता है। हम कभी भी प्राण धारण करने तथा आँखें झपकाने की क्रियाएं इच्छा पूर्वक नहीं करते। वह तो स्वयं ही चलती रहती हैं। इनकी चिन्ता मत करो। सब दुःख के मूल, इच्छा को दबाने का प्रयत्न करो। न नयी कामना पैदा होगी, न नया प्रयत्न करना पड़ेगा। इससे न सफलता का फुलाव और न निष्फलता की उदासी पैदा होगी। आत्मा शान्तियुक्त होजावेगा।

पूर्व कर्मों का भोग समाप्त होने पर जैसे तेलके विना दीपक गुल होजाता है, ऐसे ही आत्मा भी सदा के लिए शान्त होजावेगा। यही सबसे बड़ा रहस्य है।

जि०-प्रिय मित्र ! यह बात ऐसे सुगम नहीं, जैसे आप इसे बनाना चाहते हो। शरीर-धारण के कार्य्य सदा के अभ्यास के कारण विशेष परिश्रम के विना चलते रहते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी तहमें इच्छा कार्य्य नहीं कर रही होती। नासिका को हाथ से बन्द करके देखो तो सही। अभी आत्मा बोलता है, कि मुझे जीने दो। इसलिए यह हो सकता है कि तृष्णा या लालच हानिकारक हो, पर सब कर्मों के मूल, इच्छा को कुचल सकना असम्भव है। अतः खाना, पीना, उठना, बैठना सभी कुछ करना पड़ेगा। सारे लोगों से संसर्ग भी रखना पड़ेगा। कोई मित्र और कोई शत्रु भी होगा। इससे यह स्पष्ट होजाता है कि आप के मार्गानुसार राग, द्वेष से सर्वथा मुक्त रहना और सुख, दुःख से छूटकर, दीपक की तरह बुझ जाना जुड़ता नहीं। हम तो इतना भी कह सकते हैं कि वन और एकान्त-वास आवश्यक नहीं कि हमारे मलिन संस्कारों को एका-एक झाड़ सकें*। हम न भी चाहें, तो भी बाह्य सृष्टि हमें मित्रता, वैर तथा उदासीनता के रंग में रंगे बिना नहीं रह सकती।†

---

*स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये
कामतुराणामतिकामकारकम्॥ (भर्तृहरिः)

†रागद्वेषविमुक्तस्य वनस्थस्यापि देहिनः
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥

महात्मा जिज्ञासु के इन उत्तरों से बड़े प्रसन्न हो रहे थे। इन बातों से उसकी तीव्र-बुद्धि और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता था। पर अभी वह इस वादि-विनोद को कुछ और भी देखना चाहते थे। उनके दाएं ओर अन्तरानन्द* जी के होठ फड़फड़ा रहे थे। उनका संकेत पाते ही बोल उठे।

अन्त०—अजी, बाहिर का क्या बखेड़ा है। सब मनकी मौज है। अन्दर का ही एक प्रतिबिंब सा है, जिसे हम जगत् कहते हैं। संसार कोई पदार्थ नहीं। इस लिए बाहिर न सुख है; न दुःख है। इस भटकने को बन्द करो।

जि०—बहुत खूब ! संसार मन की ही एक झलक का नाम है। नहीं, यह ठीक नहीं होसकता ! बाहिर के पदार्थों के संस्कारों से ही मेरा मानसिक भण्डार बनता है। सब व्यक्तियों का ज्ञान भिन्न २ है। पर यदि सब को मिला लिया जावे, तो भी असंख्य ऐसे पदार्थ पड़े हैं; जिनके संबन्ध में हमारे पास कोई ज्ञान प्राप्त करने का साधन ही नहीं है। और, क्या किसी एक व्यक्ति के बीस वस्तुओं के ज्ञान का कहीं यह फल होता है, कि शेष सारा संसार न रहे ? यदि आन्तरिक भावों की छाया ही यह जगत् होता, तो हमारे लिए कभी भी कोई नयी घटना न हुआ करती। कभी किसी पदार्थ में उत्सुकता न होती। कोई नाश या प्राप्ति अथवा उन के निमित्त से होने वाली प्रसन्नता तथा ग़मी का भाव न दिखाई देता। हम नित्य दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखते हैं। पर

---

* जो बाह्य जगत् को अन्दर का ही मिथ्या प्रपञ्च मानता हो। बौद्धों में तथा वर्त्तमानयुग के विचारकों में कुछ ऐसा माननेवाले हुए हैं।

क्या कभी हमारे अन्दर यह विचार पैदा हुआ कि हम कोई नया पदार्थ देख रहे हैं! दर्पण फूट जाता है। क्या हम कभी भी उस प्रतिबिंब के नाश हो जाने का शोक मनाते हैं? कदापि नहीं, हम तो उस दर्पण को ही रोते हैं। कारण कि, छाया कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। वह कोई वास्तव पदार्थ नहीं। परन्तु जब वह अपनी छाया देखने वाला मरता है, तो उसके सब संबंधी बरसों शोक मनाते हैं। नित्य हम नये पदार्थों के नये संस्कार ग्रहण करते हुए उनके नयेपन को अनुभव करते हैं। साधारण से साधारण घटनाओं में भी कभी २ हमें स्वीकार करना पड़ता है कि 'आज तो वह आनन्द आया, जो पहले कभी नहीं आया था'। भाई जब भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् सभी अन्दर ही हैं, तो इन बातों का होना संभव ही नहीं हो सकता। एक व्यक्ति ने लण्डन का दर्शन नहीं किया और न उसके विषय में उसे कोई ज्ञान है। निश्चय रखो, उसके मन में उसके विषय में कोई संस्कार नहीं हो सकता। कभी लण्डन का उसको स्वप्न नहीं आ सकता। उसकी बात चीतमें कभी उसका उदाहरण नहीं हो सकता। उसके साथ इस बात में मिलने वाले हज़ारों मनुष्य हो सकते हैं। पर लण्डन संसार में है, चाहे कोई उसे जाने या ना जाने। इस लिए अन्तरानन्द महाशय, आप संसार को असली समझकर, आओ, मेरे साथ मिल जाओ और हम महात्मा जी से ही इस गांठ को खोलने के लिए कहें।

इतने में पीछे से एक और आदमी ने सिर हिलाया। इस का नाम शून्यानन्द* था। अब तक यह शून्य-रूप ही बैठे थे।

---

* अर्थात् जो ऐसा माने कि अन्दर बाहिर सब अभावरूप है॥

धीरे२ यह शून्य-भाव भरने लगा था और अन्त में इनका मुँह खुलही गया।

शू०-सुनो भाई, जैसे बाहिर कुछ नहीं, वैसे अन्दर भी कुछ नहीं। सब माया ही माया है। न मैं हूं और न तुम हो। सब मिथ्या-प्रपञ्च है।

जि०-अरे भोले भाई, यह वृथा दुहाई क्यों मचाई है? तुम सभों को मिथ्या, अभावरूप कहने वाले स्वयं कैसे मिथ्या हो सकते हो? तुम सबके मिथ्यापन के द्रष्टा हो। तुम अपने मिथ्यापन को नहीं जान सकते। अन्यथा तुम्हारा मिथ्यापन भी मिथ्या ही है। तुम्हारा तो मिथ्या प्रलाप है।

महा०-भाई मायाराम* तुम क्यों चुप बैठे हो? इन लोकायत और बौद्ध विचारों से इस युवक जिज्ञासु का सन्तोष नहीं हुआ। तुम भी कुछ कहो।

मा०-केवल ब्रह्मही सत्य है। अन्य सब कुछ मिथ्या है। और कुछ है ही नहीं। इस शरीर के भ्रम को छोड़ देना चाहिए। यही सब दुःखों का बीज है। न यहां कोई कर्त्ता है और न करण है। न कोई क्रिया है और न कारक है†। यह सब मायावी की

---

* श्री शंकराचार्य्य के सिद्धान्तानुसारी नवीनवेदान्तियों की ओर संकेत है।

† प्रत्येक क्रिया तब ही प्रकट होती है, जब कोई करने वाला, किसी साधन की सहायता से करता है। उस का किसी पर प्रभाव पड़ता है। कोई उद्देश्य फल किसी को प्राप्त होता है। यह सब संबंध जिनके अन्दर क्रिया घूमती हैं, कर्त्ता, कर्म, करण, आदि कारक अर्थात् क्रिया को सिद्ध कराने वाले कहाते हैं।

माया है । यहां न कोई पुण्य है, न पाप है । न सुख है, न दुःख है । न कोई उपासक है, न उपास्य । न कोई गुरु है, न शिष्य । सब शास्त्र और प्रमाण अविद्या की अवस्था में ही उपयोगी हैं । पर यह जैसे हुआ, जैसे न हुआ । परमार्थ में न कोई ज्ञाता है और न ज्ञेय है । अहह ! आनन्द है !

जि०—न भाई, यह बात भी नहीं है । हम कुच्छ तो हैं । हम सदा अपनी सत्ता को अनुभव करते हैं । गाढ़ निद्रा में, जब सब इन्द्रियां सो रही होती हैं, हम अपना अनुभव नहीं छोड़ते । तभी तो जाग कर कहते हैं—'आज बड़े आनन्द से सोये' । हम निरन्तर बहती हुई ज्ञान-धारा के बिन्दु भी नहीं । हम आंख, कान आदि करणों द्वारा पहुँचाए हुए संस्कारों से भिन्न चेतन सत्ता हैं । हम इन संस्कारों को संग्रह करके वासना और स्मृति को धारण करते हैं । पुरानी बातों को सुनते सुनाते हैं । जब एक ही पदार्थ को देखते, सूंघते, चखते और छूते हैं, तो उसकी एकता को निश्चित करके कहते हैं कि यह सब क्रियाएं एक ही पदार्थ पर हो रही हैं । मरे हुओं को स्मरण कर शोकातुर होते हैं । पुराने मित्रों को पुनः अपने सामने देखकर प्रसन्नता से उछलते हैं । यदि यह सब कुछ और मैं, विषय भी और विषयी भी मिथ्यारूप हैं, तो यह दिखाई क्यों देते हैं और मैं देखता क्यों हूं ?

मा०—जिज्ञासु जी, मैं यह कब कहता हूं कि तुम भी सर्वथा मिथ्या हो । वरन्, यह कहता हूं कि तुम ब्रह्मरूप हो ।

जि०—यह अनुभव के विरुद्ध कहते हो । मुझे सदा यही प्रतीत होता है कि 'मैं हूं' । इसलिए अपनी सत्ता से इनकार

नहीं कर सकता। पर ऐसा भी कभी नहीं देखा कि मैंने अपने आपको शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव परमात्मा ही समझा हो। अपना अनुभव होना और बात है और ब्रह्म-रूप होना और बात है। न ही मुझे कोई आवश्यकता प्रतीत होती है कि सब दिखाई देनेवाले पदार्थों को यूंही मिथ्या समझ लूं।

मा०-जैसे अन्धेरे में मनुष्य रस्सी को सर्प समझ लेता है, पर प्रकाश होने पर भ्रान्ति दूर हो जाती है। जैसे दूर से चमकते हुए सीप को चांदी समझ लेता है, परन्तु थोड़ा समीप आते ही भ्रम भाग जाता है, ऐसे ही यह सारा संसार भ्रमरूप समझो।

जि०-यह दृष्टांत तो उलटा पड़ता है। रस्सी मिथ्या नहीं। सर्प मिथ्या नहीं। रस्सी में सर्प की भावना असत् है। भ्रान्ति का स्वरूप ही यह है कि एक वास्तव पदार्थ के स्थान पर दूसरे वास्तव पदार्थकी कल्पना करना। वास्तव में सीप, प्रकाश-रश्मिओं के कारण चांदी (जो कि सद्रूप है) की तरह चमकता है और हम उसे चांदी ही समझ बैठते हैं। हो कुछ न, और प्रतीत होने लग जावे, ऐसा नहीं हो सकता। वस्तुतः असद् में सद् का यह अध्यास* हो ही नहीं सकता। मिथ्या प्रतीत होने के लिए भी कोई सद्रूप आश्रय चाहिए।

---

* अध्यास या आरोप का शंकर स्वयं यही स्वरूप बताते हैं—

"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" (वेदान्तभाष्ये)

अर्थात् दूसरे भिन्न पदार्थ में देखे हुए किसी अन्य वस्तु का स्मृति के बल से प्रतीत होने लगना अध्यास कहलाता है। जैसे रस्सी देखी। सर्प की स्मृति इतनी प्रबल हुई कि अन्धकार में निश्चल रस्सी फुंकारे मारती हुई भासने लगी।

मा०—अच्छा, अब तुम समझ जाओगे। कभी किसी जादूगर (Hepnotist) की पकड़ में आये हो? इन्द्रजाल का दृश्य कभी देखा? कुछ नहीं होता और फिर प्रतीत होता है।

जि०—यह बात भी सत्य नहीं है। जो कुछ हम देखते हैं, या सुनते हैं, उसका एक मानसिक चित्र (Psychological image) हमारे चित्त में सदा मौजूद रहता है। जब हम सो जाते हैं, इन्द्रियों के बाह्य व्यापार बन्द हो जाते हैं, नया संस्कार भीतर प्रवेश नहीं कर रहा होता। परन्तु यदि अधिक थककर या पेट भरकर लेटे हों, सोने से पूर्व चिन्तातुर रहे हों या किसी विशेष बात के संबंध में बड़े ध्यान से सोचते, विचारते या पढ़ते रहे हों, अथवा कुछ सुनते रहे हों, तो गाढ़ निद्रा नहीं आती, स्वप्न आते रहते हैं।

मा०—अभी हमारी बात तूने समझी ही नहीं। ले, एक और दृष्टान्त मिल गया। सारा संसार भी एक बड़ा लम्बा स्वप्न ही तो है*।

जि०—घबराइए नहीं। स्वप्न का स्वरूप तनिक अपने सामने लाओ और सोचो। अभी सारा भेद खुल जाएगा। देखो, स्वप्न में क्या होता हैं। आँखें बन्द हैं, पर रंगा रंग के चित्र विचित्र दृश्य हम देख रहे हैं। बाहिर का कोई शब्द नहीं सुनते, पर

---

* शंकर के अनुयायिओं का एक प्रसिद्ध श्लोक जीव को ब्रह्मरूप और संसार को स्वप्न बतला रहा है इस लोरी के विषैले प्रभाव से ही भारतीय जाति गाढ़ निद्रा में सो रही है—

"शुद्धोसि बुद्धोसि निरञ्जनोसि संसारमाया परिवर्जितोसि।
संसारस्वप्नस्त्यजमोहनिद्रां मन्दालसा वाक्यमुवाचपुत्रम्" ॥

अन्दर पूरी गन्धर्व-सभा लग रही है। बाजे गाजे बजते हैं। रागी गारहे हैं और नाच होरहा है। अभी देखो, वह युद्ध हो रहा है। हाथ हिलता नहीं, पर हज़ारों के गले कट रहे हैं और लाखों घायल होरहे हैं। रुधिर की नदियां बहने लग जाती हैं। रुधिर-प्रवाह के गर्म २ सम्पर्क से हम चौंक भी पड़ते हैं। तलवार के वार से चीख़ भी निकल जाती है। अपना सिर स्वयं काट लेते और फिर शोक-वश रोने भी लग जाते हैं। शत्रुओं से बचने के लिए पड़े २ सैंकड़ों कोस भाग जाते हैं। कभी २ जोश में आँख भी खुल जाती हैं। सुफ़ेद वस्त्रों से सदा ढकी रहने वाली हिमालय की चोटियों पर जा चढ़ते हैं, समुद्रों को पार कर लेते हैं, और जो कभी नहीं हुआ, वायु में उड़ भी लेते हैं।

अन्त०—बहुत ठीक। तभी तो मैं कहता था, अन्दर ही सब कुछ है।

जि०—भाई, धीरज धरो। बाहिर संसार विद्यमान है, यह अभी कह चुके। यदि इसे स्वप्न की तरह मिथ्या कहो, तो यह बात बनने की नहीं है। जागृत-दशा के ही संस्कार, मानो, मूर्त्ति को धारण कर स्वप्न में खड़े होजाते हैं। यह अणु-मात्र मन सारे विश्व का रूप बन जाता है। वस्तुतः उस समय एक बड़ा नाटक हम खेल रहे होते हैं। दिन में जिन २ रूपोंको धारण किया, धारण करने का विचार किया, या धारण करने वालों की समालोचना की, वह अब सभी हमारे ऊपर आ आ कर कूदते हैं। हम बेबस हैं, और यह सारा नाच नाचना पड़ता है। यह संस्कार सब सद्रूप (असली) हैं, अतः उनका प्रतिबिंब

भी वैसा ही समझना चाहिए, जैसे मनुष्य की दर्पण में छाया। न यह मिथ्या है, न वह। न यह अपने आप सद्रूप है, न वह।

मा०-पर स्वप्न में कुछ बात ऐसी भी तो होती हैं, जो न कभी देखी हों और न सुनी हों।

जि०-न, यह बात नहीं है। जन्मान्ध को कभी भी रंग का चित्र स्वप्न में दिखाई नहीं देता और न बहिरे को सूक्ष्म राग सुनाई पड़ता है। हां, क्रम आगे पीछे हो जाने से, चित्र टेढ़ा सीधा हो जाता है। कारण कि, आत्मा उस समय अपनी किस्मत का मालिक नहीं होता। अब तो केवल तमाशाई होकर उसे अपने दिन भरके नाटक को देखना पड़ता है। इन्द्रियों तथा स्मृति का शिथिलता से, कुछ संस्कारों के प्रबल और कई एक के दुर्बल हो जाने से नयापन सा प्रतीत होता है। परन्तु यह वैसे ही है जैसे किसी का सिर नीचे और पैर ऊपर करके कहा जावे कि यह नया मनुष्य है।

मा०-ख़ैर, स्वप्न की लीला तो ऐसी ही है। पर हमारे दूसरे दृष्टान्तों को तो अभी तुमने छुआ भी नहीं।

जि०-बस, वहां भी यही बात है। जैसे एक बलवान् शरीर दूसरे निर्बल को दबा लेता है, ऐसे ही यत्न करने से मनुष्य अपने मनको भी दूसरों को दबा सकने वाला बना सकता है। जिनका मन दुर्बल होता है, वही जादू और इच्छाबल के विषय*

* मानसिक प्रभाव (Hypnotic influence) में एक तो प्रभाव पैदा करनेवाला होता है, उसे विषयी (Subject) और दूसरा प्रभाव ग्रहण करनेवाला होता है, उसे विषय (Object) कहते हैं।

बना करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ सकता। अब जैसे स्वप्न में हम कुछ न करते हुए भी सब कुछ करते हैं, ऐसे ही ऊपर कहे प्रकार से दबा हुआ पुरुष भी दूसरे के इशारे से सब बातें और काम करता है। ऐसी दशा में हमारे अन्दर गहरी गई हुई कुछ वासनाएं होती हैं, वह जाग पड़ती हैं। इनका बोध हम को मोटे व्यवहार में बहुत कम हुआ करता है। यही अंग्रेज़ी में सब-कानशस (Sub-conscious) दशा कहलाती है। इसका विस्तार यहां नहीं करूंगा। मेरा प्रयोजन पूरा हो गया है।*

अपनी मानसिक शक्ति का विस्तार करने वाले विषयी के भाव सद्रूप हैं। दूसरे की ऊपर कही दशा सद्रूप है। इसलिए इन उदाहरणों से भी तुम्हारा पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। स्वप्न जागने पर और इन्द्रजाल (Hypnotic hallucination) संहार (withdrawal) के पीछे नहीं रहते। पर यह संसार जिसमें विचरते हुए यह सब संकल्प, विकल्प होते हैं, वैसे का वैसा सद्रूप, अबाधित बना रहता है।

मा०—मृगतृष्णा का दृष्टान्त तो ठीक है। दूसरे चान्द का दिखाई देना तो सर्वथा मिथ्या है।

जि०—इससे तो यही पता लगता है कि आप पदार्थ विद्या

---

* यह हमारे इस आन्तरिक रूप का परिणाम होता है कि जो प्रश्न उस दशा में हमसे किए जाते हैं, उनका उत्तर सदा हमारे ही भावों के अनुसार होता है। कुछ लोग अन्तरिक्ष में ठहरे हुए प्रेत जीवों से सन्देशों का आना मानते हैं। दूसरे सूक्ष्म विचार को ही आकाश में व्यापक मानते हैं। सर्वथा सद्रूपता में कोई भेद नहीं पड़ता।

के समीप बहुत कम गये हैं। यह प्रकाश की किरणों का सारा खेल है*। यह मिथ्या भ्रम नहीं। प्रतीति सच्ची है, किरणें सच्ची हैं। बालु और चांद भी सच्चे हैं। ऐनक लगाने वाले तनिक आंख को नीचे की ओर झुकाने से या गर्दन को पीछे मोड़ने से प्रत्येक वस्तु के दो २ रूप देख सकते हैं। एक पदार्थ से चल कर जब किरणें दो स्थानों पर केन्द्रित होंगी, तो दो रूप ही दिखाई देंगे। कई नेत्रों के अन्दर के झिल्लीदार परदे में इस से अधिक दोष होता है। एक प्रतिबिंब का फिर प्रतिबिंब बन जाता है। इस से दो से अधिक रूप भी दिखाई देजाते हैं। यहां मिथ्या है ही क्या? बालु पर पड़कर प्रकाश की रश्मियां एक चमक पैदा करती हैं। प्यास से बेसुध हुए २ मनुष्य को धोखा लग जाता है। बेचारे मृग का तो कहना ही क्या! भाई, विद्या के सदा उपस्थित रहने पर ही काम ठीक रहता है। मुझे तुम्हारे मिथ्या-वाद से सन्तोष नहीं हो सकता। मैं घर से निकलते ही यहां नहीं आ गया हूं। इस से पूर्व हज़ारों मन्दिर और मठ घूम चुका हूं। अनेक सम्प्रदायों की लीला देखी और सुनी। पर सब लीला ही थी। अब मैं समझता हूं, इन महात्मा जी का उपदेश सुन कर किसी किनारे लगूं।

महा०-आप का शुभ नाम क्या है?

जि०-भगवन्! मुझे लोग सत्यकाम कह कर पुकारते हैं।

---

* एक पात्र में पैसा रखो और अब जल से उसे भरो। पैसा ऊपर उठता हुआ दिखाई देगा। यह प्रकाश के अभ्यावर्त्तन (Refraction) का नियम है। ऐसे ही कुहीर आदि के कारण या वाष्प के कारण, रेत ऊपर उठी हुई प्रतीत होती है, यही धोबियों के कपड़े सूखा करते हैं।

महा०—बहुत अच्छा। आपकी कामना पूरी होगी। अब देर होरही है। आपने भी नित्य कृत्यादि करना होगा। कल कुछ सवेरे ही आजाइए।

इस प्रकार महात्मा जी की आज्ञा होते ही सबने झुक कर नमस्कार किया और अपने २ निवास-स्थान की ओर चल पड़े। मायाराम के अनुरोध से सत्यकाम जी उसी के मकान पर विश्राम करने के लिए उसके साथ होगये।
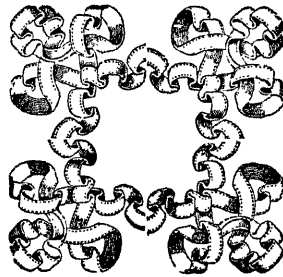
भूमिका

[उत्तर प्रकरण]

नीर-तीर

मायाराम के मनमें कुछ बिजली सी चल गयी थी। सायं समय की सन्ध्यादि सभी कुछ त्यागा हुआ होने पर भी,* आज वह सत्यकाम जी के साथ आसन बिछा कर बैठ गये। वर्षों के दबे हुए विचार आ २ कर उसे व्याकुल करने लगे। सत्यकाम जी की आंख खुली, तो मायाराम रो रहा था। यह देख वह घबरा सा गया और दिलासा देते हुए यह शब्द उसके मुंह से निकले—

सत्य०—भाई, कुछ वर्ष पूर्व मेरे साथ भी ऐसे ही हुआ था। संसार के नर नारी के पीछे यह मायावाद और दूसरे नास्तिक-वाद हाथ धोकर पड़े हैं। धर्म, कर्म सब मलियामेट होगया है। देखो, अभी यह उदासी ठीक नहीं। हज़ारों और युक्तियां तुमने इन वेदान्त के नाम पर कपोल-कल्पित कथाओं के सुनाने वालों से सुनी होंगी। यह अच्छा होगा यदि रहा सहा मन का भ्रम दूर हो जावे। फिर मिल कर इकट्ठे ही कल महात्मा से उपदेश ग्रहण करेंगे।

---

* 'अहं ब्रह्म' के मन्त्र का जाप साधारण संसारी लोगों को नास्तिक बनाने का सबसे बड़ा साधन है। न केवल परमात्मा की सत्ता से इनकार करता है, वरन अहंकार के मद से सर्वथा नष्ट भी हो जाता है।

मा०—मैं तो अपने से निराश होचुका था। अब मैं सब गांठों को एक वार खोल कर ही विश्राम करूंगा। पर आपने लम्बी यात्रा की हुई है। प्रातः भी कहीं भोजन किया हो या न किया हो। आओ, प्रथम भोजन कर लें।

सत्य०—बहुत अच्छा।

यह कह कर वह अपने मित्र के साथ भोजन-शाला में चले गये। भोजन से निपट कर, उनके मकान के नीचे ही एक सुन्दर नदी बहती थी, उसके किनारे पर आ गये। शान्ति का समय था। चारों ओर चुपचाप थी। कभी २ ज़ोर से लहर की चटान से टक्कर लगती, तो कुछ शब्द होता। पूर्णिमा की चान्दनी से सारा रेतीला मैदान एक बड़े भारी चान्दी के तख्ते की तरह चमक रहा था। दोनों मित्र पास २ बैठे थे। मायाराम ने बात आरम्भ की।

मा०—अच्छा, यह जो कहते हैं, कि सब मिथ्या है, क्योंकि ज्ञान की जागृति होने पर कुछ भी नहीं रहता, इस का क्या समाधान है?

सत्य०—भ्रम दूर होने पर सीप का सीप होजाता है और रस्सी की रस्सी। सायं होजाने पर मरीचिका (Mirage) भी बालु का ढेर ही रहजाती है। स्वप्न के पीछे स्वप्न की कोई वास्तविकता नहीं रहती। मायाजाल या जादू के पीछे भी यही हाल होता है। पर उस अवस्था की सी प्रतीति, सूक्ष्म सुख या दुःख का अनुभव बना रहता है। और मूल जगत् जिसके संस्कारों के कारण मन ने यह नाटक खेला था, सद्रूप मौजूद होता है। तो प्रपञ्च

अर्थात् संसार के विषय में भी जब मिथ्यापन का ज्ञान होता है, तो इसके पीछे कुछ तो रहना चाहिए। सांप न सही, रस्सी भी तो सद्रूप है। ऐसे ही पत्थर न रहे, मिट्टी ही सही, कुछ तो तत्त्व रखना ही पड़ेगा। असद् वस्तु में तो कोई अध्यास अर्थात् मिथ्या भ्रम हो ही नहीं सकता। और फिर जब तक एक भी अज्ञानी होगा, संसार का खिलोना बना ही रहेगा। तीन काल में भी सारे प्राणी एक साथ ज्ञानी नहीं हो सकते, अतः सदा ही संसार भी रहना चाहिए। तो फिर इसका मिथ्यापन क्या हुआ?

मा०-जिसको ज्ञान होजाता है, उसके लिए तो नहीं रहता।

सत्य०-यह क्या कोई अनोखी बात है? साधारण कहावत भी तो यही है—'आप मरे जग प्रलय'। जब हमें किसी पदार्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता, न हमें ग्रहण करके कोई लाभ है, न त्याग देने से कोई लाभ है, तो हम उसके प्रति उदासीन हो जाते हैं। उस के होने से हर्ष नहीं, उस के न होने से खेद नहीं होता। एक साहूकार का माल चोरी जाता है। वह दुःखी होता और हज़ार हीले करता है। पर अब कल्पना करो कि सत्संग के प्रभाव से आर्य्य मर्यादानुसार वह संन्यासी होजाता है। अपने हाथ से सर्ववेदस् यज्ञ करता हुआ सभी कुछ लुटा देता है, अथवा विरक्त हो त्याग कर चला जाता है। अब पीछे माल लूटने या चोरी जाने पर उसका मन विचलित नहीं होता उसके कारण अब सुख दुःख नहीं होता। यह कर्मयोग का दृष्टान्त है, न कि संसार को मिथ्या सिद्ध करने का। यदि एक

मनुष्य मर जाता है तो उसके लिए संसार न सही। पर दूसरों के लिए तो वैसे ही है। और, उसने भी संसार से बाहिर कहां जाना है। अपनी वासनाओं के अनुसार ही उच्च, नीच, मध्यम अवस्था को प्राप्त कर लेता है। एक स्थान पर आंखें बन्द करता है, दूसरी जगह खोल लेता है। मूर्ख यह समझते हैं कि सूर्य्य अस्त होकर वस्तुतः छिप जाता है और, कि कृष्ण-पक्ष में चन्द्र को देवता पी जाते हैं। जैसे यह आलंकारिक* कल्पना-मात्र है, ऐसे ही इस प्रकार से सिद्ध किया हुआ जगत् का मिथ्या होना भी एक गपोड़ा ही है।

मा०—नहीं, वह तो यह कहते हैं कि नाश नहीं होता, नाना भाव मिट कर सब कुछ एक ब्रह्मरूप भासता है।

सत्य०—यह तो ठीक है कि जब भक्त भक्ति-मार्ग पर बहुत आगे निकल जाता है, तो उसे सर्वत्र प्रभु का दर्शन होता है। पत्ते २ में उसी की हरयावल और डाल २ में उसी का रंगीला फूल दिखाई देता है। वह तो कह सकता है कि मेरे लिए अब सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। पर यह मस्ती का प्रकाश है। वस्तुतः भक्त भी मौजूद रहता है। संसार भी मौजूद रहता है। तन्मय होकर हरि-शरण में गया हुआ सभी कुछ भूलने का अभ्यास सिद्ध कर

---

* कवि लोगों की वाणी में विशेष बल होता है। साधारण बात को भी वह उस बल से असाधारण बना देते हैं। उन के इन बल-युक्त वचनों के सुन्दर बनाने वाली भिन्न २ प्रकार की रचनाओं का नाम अलंकार है।

'लिम्पतीव तमोंगानि, वर्षतीवाञ्जनं नभः।'

अन्धकार शरीर के साथ चिमटा जाता है और काजल की वर्षा होरही है। यह गाढ़ अन्धेरे का वर्णन है।

के ऐसा कह सकता है। परन्तु यदि कुछ लोग* यह मानते हों कि ब्रह्म वस्तुतः जगत् का रूप धारण किये हुए है, अर्थात् संसार मिथ्या नहीं, प्रभु के शरीर के समान उसी का ही फैलाव है, उसीका परिणाम है। जब उसकी इच्छा होती है, विस्तार कर लेता है। जब चाहता है, संहार कर लेता है। तब तो बड़ा बखेड़ा है। जगत् नाना रूप, मूर्त्त, सावयव और विकारी है। ब्रह्म एकरूप अमूर्त्त, निरवयव और अविकारी है। जगत् जड़ है, ब्रह्म चेतन है। वह कौनसी शक्ति है, जो ऐसे प्रभु को कुछ का कुछ बना सके? जैसे प्रत्येक प्राणी चेतन अपने शरीर से भिन्न, स्वतन्त्र है, ऐसे ही प्रभु भी इस ब्रह्माण्ड-रूपी शरीर से सर्वदा भिन्न है। इस भेद में अभेद की कोई गुंजायश नहीं। †

मा०-परन्तु हमारे सम्प्रदाय में तो परिणामी ब्रह्म नहीं माना जाता। उनके मुख्य दृष्टान्तों को तो दिन के समय ही आपने मुझे समझा कर सन्तुष्ट कर दिया। एक घुण्डी रह गयी है। वह अविद्या या अनादि माया का सिद्धान्त है।

---

* रामानुज-सम्प्रदाय वालों से तात्पर्य है। शंकर-मत को विवर्त-वाद=मिथ्याऽऽभासवाद और रामानुजमत को परिणाम-वाद या विशिष्टाद्वैत-वाद भी कहते हैं।

† इस मतका विस्तार यहां नहीं दिखलाया। इनका दार्शनिक तत्त्व इससे अधिक नहीं है। शेष साम्प्रदायिक क्रिया कलाप तथा विशेष प्रकार से हरि-पूजा ही है। यह बातें प्रायः अवैदिक हैं। पर इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से विद्वानों की दृष्टि में उपनिषदों तथा गीता और ब्रह्म-सूत्रों के शब्दों की इस सम्प्रदाय अर्थात् विशिष्टाद्वैत के अनुसार संगति अधिक अच्छी तरह लगती है। मूल वेद का इन विषयों में जो आशय है, वह आगे पुस्तक के पाठ से विदित होजावेगा।

सत्य०-यह ठीक है, नवीन वेदान्ती अर्थात् गौडपादाचार्य्य और शंकराचार्य्य के शिष्य इस अविद्या के आधार पर ही इस सारे दृश्यमान जगत् की कल्पना करते हैं । आओ, इस का भी निर्णय कर ही लें । आरम्भ करो ।

मा०-वस्तुतः जगत् कुछ नहीं । अविद्या के कारण हम समझ रहे हैं कि हमारे सामने कुछ पदार्थ हैं और अविद्या के ही कारण हम अपने आप को पृथक् समझते हैं । अविद्या के कारण ही प्रत्येक देहस्थ चेतन, अविद्या के ही कारण पैदा हुए २ अन्तः-करण की मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-रूपी चार प्रकार की वृत्तियों के जटिल जाल में फंस जाता है। जैसे स्वप्न देखने वाला अपने आप योद्धा बन कर युद्ध करता हुआ मर जाता है और अपने आप शोक भी कर लेता है, जैसे सूर्य्य एक प्रकाश-स्वरूप होता हुआ भी बीस पानी के प्यालों में पृथक् २ भासता और जल के हिलने से हिलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे एक सर्वत्र फैला हुआ आकाश, मकानों और कमरों के विभाग के कारण टुकड़े २ होकर भिन्न २ भासता है, ऐसे ही एक शुद्ध ब्रह्म, अविद्या के कारण अन्तःकरण भेद से भिन्न २ हो रहा है । इस प्रकार केवल साक्षी होता हुआ भी कर्त्ता, भोक्ता के भाव की कल्पना कर के सुखी, दुःखी हो रहा है । वस्तुतः सब माया का खेल है । न सुख है, न दुःख है । न कर्त्ता है, न कर्म है । जैसे आगे रंग बरंग के फूल रख देने से बिलौर भिन्न २ रंग वाला दिखाई देता है और फूल हटा लेने से अपने शुद्ध रूप में हो जाता है, ऐसे ही शुद्ध ब्रह्म उपाधियों

के कारण भिन्न २ प्रतीत होरहा था, ज्ञान के उदय होने पर इस भूल की जड़ पर कुल्हाड़ा चल जाता है।

सत्य०—भाई, यह उनका कथन भ्रमात्मक है। अविद्या के कारण एक ब्रह्म किस तरह, एक ओर तो नाना नाम-रूपों से जुदा हुआ हुआ, स्थूल तथा सूक्ष्म रचनाओं से चित्र विचित्र, संसार, और दूसरी ओर अन्तःकरण के सम्पर्क में आकर अपने आप को कर्त्ता, भोक्ता माननेवाला संसारी, प्रत्येक शरीर में भिन्न २ बन गया, यह समझ में नहीं आता। पानी का प्याला होता है, तो सूर्य का बिंब भिन्न होकर दिखाई देता है। मकानों का भेद होता है तो आकाश में भेद की कल्पना होती है। पुष्प भिन्न २ होते हैं, तो बिलौर में रंगों की कल्पना होती है। जब तक भिन्न २ अन्तःकरण विद्यमान न हों, एक मात्र, अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित ब्रह्म में ऐसी नाना-भाव की मिथ्या कल्पना ही कब हो सकती है? और इन दृष्टान्तों में भी वस्तुतः मिथ्या कुछ नहीं। सूर्य, आकाश और बिलौर सद्रूप हैं। जल, मकान तथा फूल सद्रूप हैं। उनका परस्पर प्रभाव होता है। उस से इन्कार नहीं। यह तो साधारण पदार्थ-विद्या की बातें हैं। सूर्य की रश्मियों का एक स्थान पर केन्द्रित होना झूठ नहीं। प्रतीति भी झूठी नहीं। हां, इतना अंश ठीक है कि सारी बातों में सूर्य, आकाश तथा बिलौर पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता। यहां भी इसी प्रकार कहा जा सकता है कि ब्रह्म पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह शुद्ध-रूप ही रहता है। केवल इतनी कसर है, उसे पूरा करना असम्भव है। ब्रह्म

केवल एक है। अन्तःकरण कहां से आया? यदि किसी तरह बन भी गया, तो ब्रह्म का आभास कैसे? वह तो निराकार है। यदि बिलौर की तरह कहें तो भी नहीं बनता। बिलौर और फूल दोनों जड़ साकार तथा भौतिक पदार्थ हैं। निराकार ब्रह्म किस तरह जड़ उपाधियों से दूषित हो सकता है? यदि हो भी गया, तो यह जाननेवाला कोई अलग होना चाहिये। वह यहां माना ही नहीं जाता। यहां तो उपाधि द्वारा दूषित ब्रह्म ही अपने आपको कुछ न कुछ समझने लग जाता है।

मा०—इस सारी समस्या का उनके पास 'अविद्या' ही उत्तर है। इसी के प्रभाव से एक, अविकारी ब्रह्म से एक ओर तो प्रपञ्च विस्तृत होता है, जिस से अन्तःकरण आदि का विकास होता है, दूसरी ओर अहंकार-वृत्ति से अपने आपको अभिन्न समझनेवाला आत्मा संसारी बनता है।

सत्य०—यदि यह बात है, तो प्रपञ्च मिथ्या नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने से अन्तःकरण अभाव-रूप होगा। अतः मिथ्या उपाधि से वस्तुतः आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। और भाई, इस अवस्था में जब संसारी ही कोई न हुआ, तो मोक्ष किस का और शास्त्र किस के लिए? यदि संसारी की सिद्धि के लिए प्रपञ्च का प्रथम होना अत्यन्त आवश्यक है * तो यह कहना कि संसार मिथ्या, असद्रूप है, दिखाई देता है,

---

* अन्तःकरण प्रपञ्च का ही एक सूक्ष्म भाग है। जब तक वह न हो, उपर्युक्त अध्यास आदि की सम्भावना न होने से संसारी "मैं" कहनेवाला बन ही नहीं सकता।

पर है नहीं, यह सारी बातें ही बातें हैं। जिस के आधार पर व्यवहार सिद्ध होता है, उस को बीच में से उड़ा देने से वेदान्त की यह प्रक्रिया एक पग भी आगे नहीं चलेगी!

मा०—वह तो यह कहते हैं कि दोनों ही मिथ्या हैं। मिथ्या उपाधि और मिथ्या ही संसारीपन का परिणाम है।

सत्य०—तो यह तो बड़ी बेढंगी बात होगी। हम परस्पर बात-चीत कर रहे हैं। यह अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय है। इसे सिद्ध करने के लिए कोई अन्य प्रमाण नहीं चाहिए। इस को झुठलाना संभव नहीं। अतः संसारी आत्मा अवश्य है। ऐसा ही सभी वेदान्तियों ने भी स्वयं प्रतिपादन किया है *। उन का और हमारा अन्तर इतना ही है कि वह मिथ्या प्रपञ्च के सहारे सद्रूप आत्मा की सत्ता स्थापित करना चाहते हैं और हम इसे असंभव समझते हैं। वास्तव प्रपञ्च एक, अद्वितीय ब्रह्म का विकार (कार्य्य) नहीं हो सकता, यह आप अभी सुन चुके हो। इस से अखण्ड के खण्ड, अरूप का रूप, अविनाशी का विनाश स्वीकार करना होगा।

मा०—यह प्रपञ्च-विस्तार अविद्या द्वारा पैदा होता है, अतः मिथ्या ही है।

---

* यह तो कोई कह नहीं सकता कि जगत् नहीं है। प्रत्यक्ष मौजूद है। अतः मिथ्या है, प्रतीत होता है, ऐसा वाक्य रचा जाता है। प्रतीत होना प्रतीत करनेवाले के बिना असम्भव है। प्रतीत करनेवाला (शुद्ध ब्रह्म) संसारी बने विना असम्भव है। संसारी होना अन्तःकरण पर निर्भर है। अन्तःकरण जगत् का भाग है। अतः या तो जगत् मिथ्या नहीं, या संसारी होना सत्य नहीं।

सत्य–वह अविद्या क्या है सद्रूप या असद्रूप ?

मा०–इसे अनिर्वचनीय मानते हैं। सद्रूप यदि मानें तो ब्रह्म के साथ दूसरा स्वतन्त्र सत्ता वाला पदार्थ हो जावेगा। असद्रूप कहें, तो प्रपञ्च की व्याख्या नहीं की जा सकती। और उस अवस्था में "मैं" कहने वाले जीव की स्थापना भी नहीं हो सकती। अतः यह अविद्या या माया क्या है, समझ में नहीं आता।

सत्य०–देखिए, यह उन लोगों ने अपने चारों ओर एक जाल सा बिछा लिया है। इसमें जो एक बार फँस जावे, उसका निकलना कठिन है। ध्यान से सुनो। अविद्या विपरीत ज्ञान का नाम होसकता है। पर सदा–शुद्ध, सर्वज्ञ ब्रह्म में यह नहीं होसकता। इन लोगों के मतानुसार ब्रह्म के सिवाय और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। अतः किसी अन्य के सम्बन्ध में विपरीत ज्ञान की संभावना ही नहीं। उसका ज्ञान विपरीत तब हो, जब वह अपने आप को असत् समझे। परन्तु वह अपनी सत्ता को संसारी अवस्था में भी नहीं भूलता, ऐसा यह लोग भी मानते हैं। अविद्या का अर्थ सर्वथा ज्ञान से शून्य होना भी हो सकता है। पर आत्मा चिद्रूप है। चेतन होना और ज्ञान-रहित होना परस्पर असंगत है। यह निश्चय रखो कि यदि केवल शुद्ध ब्रह्म नाना नाम–रूप में विभक्त संसार को नहीं बना सकता, तो विपरीत–ज्ञानी अथवा अज्ञानी ब्रह्म तीन काल में भी नहीं बना सकता। वृथा नास्तिकता का प्रचार हो रहा है। ब्रह्म यदि अज्ञानी होगया, तो संसार को नियम में चलाने वाला कौन हुआ ? यदि सारा ब्रह्म अज्ञानी नहीं हुआ, तो

कितना ब्रह्म ज्ञानी और कितना अज्ञानी हुआ ? टुकड़े टुकड़े हो कर ब्रह्म, नित्य नहीं हो सकता । इन टुकड़ों को परस्पर मिलाने वाला कोई और नित्य ब्रह्म, सबका नियामक मानना पड़ेगा। अज्ञानी ब्रह्म का कौन सा भाग प्रपञ्च का रूप और कौन सा संसारी आत्मा का रूप धारण करता है ? स्मरण रखो यह प्रपञ्च तीनों कालों में रहता है। अतः अज्ञानी ब्रह्म का भी नित्य होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में शुद्ध ब्रह्म एक ओर, जीवात्मा और संसार-माया दूसरी ओर सदा से चले आने वाले नित्य पदार्थ हैं।

मा०-यदि अविद्या को प्रभु की शक्ति मानें और उससे सारी उत्पत्ति मानें, जैसे ईसाई और मुसलमान आदि अनेक सम्प्रदायों वाले मानते हैं तो क्या हानि है ?

सत्य०-केवल शक्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं । यह एक प्रकार का गुण है। सदा अपने आश्रय के साथ रहता है । इस प्रकार की शक्ति से जगत की उत्पत्ति मानना परमात्मा से ही मानना है। उस अवस्था में उपर्युक्त प्रकार से परमात्मा के टुकड़े मानने पड़ेंगे। वेदान्तियों का यदि मिथ्या संसार बनना कठिन था, तो जो मिथ्यावादी नहीं, उन के लिए तो जीव की अल्पज्ञता और जगत् की जड़ता की व्याख्या करना सर्वथा असम्भव ही है। शक्ति को स्वतन्त्र कारण मानने से परमात्मा की एकता की प्रतिज्ञा टूटती है। इस लिए यह मार्ग बड़ा विकट है। यही माया की माया है।

मायाराम डुबडुबाती हुई आँखों के साथ हार्दिक धन्यवाद करता हुआ बोला।

मा०—मैं ने तो सारा जीवन व्यर्थ ही खोया। आज आप के दर्शन से मुझे निश्चय हुआ है कि मुझे अभी बहुत कार्य्य करना है।

सत्य०—भाई, मत घबराओ। प्रभु का धन्यवाद करो। ऐसे मिथ्यावाद के अँधेरे कुएं से निकलकर सत्य, सनातन, वैदिक धर्म की शरण में आओ। मैंने भी कई पापड़ बेले हैं। अनेक पंथों और सम्प्रदायों में रहा हूं। पर जितना जीवन-रस मुझे आर्य—शास्त्रों के वचनों से प्राप्त हुआ है, उतना और कहीं नहीं हुआ। चिरकाल से मेरे मन में लग्न लग रही थी कि इन सब शास्त्रों के मूल-स्रोत अर्थात् वेद का उपदेशामृत पान करूं। गीता और रामायण सुनाने वाले बहुत मिलते हैं। उपनिषद् बांचने वाले भी कहीं २ मिल जाते हैं। पर वेद भगवान् का पुजारी बहुत कम सुनने में आता है। तुम धन्य हो, शंकरानन्द, तुम्हारे नगर में यह महात्मा वेद के अद्वितीय व्याख्याता निवास करते हैं। इनका यश मुझे दो हज़ार कोस से खींच लाया है।

मा०—भाई, हमें तो इस बात की परख ही न थी। गुणी ही गुण को पहचान सकता है। मैं आपके दर्शन करके वस्तुतः तर गया हूं। यह आनन्द की रात है।

सत्य०—चलो, अब सोने का प्रबन्ध करो। कल मेरे साथ महात्मा की शरण में चलना होगा। वहीं पर वस्तुतः हम दोनों वेद-गंगा में दिल खोलकर डुबकियां लगाएंगे। चलो, अब देर होगई है।

—०—

सन्देश का आरम्भ

प्रथम उच्छ्वास ।

दोनों मित्र जाकर सो गये । नदी का शोर अब बहुत बढ़ता हुआ सुनाई पड़ने लगा । तारे, आकाश में चान्द की चान्दनी को निहार २ कर मुसकरा रहे थे । चारों ओर सन्नाटा छा रहा था। हज़ारों आदमी इन्हीं पत्थरों पर बैठ २ कर अपनी २ रुचि के अनुसार हास, विलास में या विचार, ध्यान में समय बिताकर चले गये । संसार बड़ा विचित्र है । मनुष्य अभिमान वश यह भूल जाता है । यह अपने आपको ही सकल सृष्टि का केन्द्र समझने लग जाता है । पर वस्तुतः इस ब्रह्माण्ड में हमारी सारी पृथिवी समुद्र में जल-विन्दु से अधिक महत्त्व नहीं रखती । हमारी शक्तियां अत्यन्त परिमित होने से इस संसार में हम जान ही कितना सकते हैं ? अधिक प्रकाश हो, तब हमें दिखाई नहीं देता, कम प्रकाश हो, तब हमें दिखाई नहीं देता । यही हाल सुनने की शक्ति का है । और देखने पर भी जो संस्कार अन्दर जाता है, हमें उसी से परिचय होता है । वस्तुतः सीधा बाह्य वस्तु से हम सम्बन्ध पैदा कर ही नहीं सकते । हम संसार नहीं देख रहे, संसार की तसवीरें देख रहे हैं । वह बहुत कम है, जिसे हम अपनी इन्द्रियों के बल से जान सकते हैं । वह बहुत बड़ा भाग है जिस के विषय में हम अनुमान से ही ज्ञान प्राप्त करते हैं । बहुत सा विषय ऐसा है, जहां अनुमान भी साथ

नहीं देता। साक्षात्कार तथा अनुभव का विषय श्रद्धा से ही प्रत्यक्ष होता है। इस का मूल आप्त वचन अर्थात् शब्द प्रमाण ही है।*

महात्मा अनुभवी पुरुष थे। सत्यकाम तथा शंकरानन्द को देखते ही यह सारे विचार उनके मनमें घूमने लग गये। वह प्रसन्न थे कि कोई अधिकारी श्रोता तो मिला। सत्यकाम ने विनय पूर्वक प्रार्थना की।

सत्य०—महाराज! हम दोनों श्रद्धापूर्वक आप की शरण में आये हैं। श्रुति-माता का कुछ सन्देश सुनना चाहते हैं।† जीवन क्या है और कैसे निर्वाह करना चाहिए? सुख क्या है और कैसे प्राप्त होसकता है? दुःख क्या है और क्योंकर दूर

---

* "न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥
नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।"
कठोपनिषद् २। ९-१०॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। वेदान्तसूत्र २। १। २७॥
इसके ऊपर शंकरभाष्य तथा उस में उद्धृत यह श्लोक देखोः—
"अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

† भगवान् ने गीता में श्रद्धा-पूर्वक गुरु-चरणों में जाना ही ज्ञान का मुख्य साधन कहा हैः—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः"॥ ४। ३४॥

हो सकता है ? भगवन्, केवल तर्क से हमें सन्तोष नहीं। इन विषयों पर वेद का उपदेश सुनना चाहते हैं।

महा०—मायारामजी, मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आप मायावाद के बाघ के मुँह से जीते जी निकल आए हैं। स्मरण रखो, वेद में इस मन-माने मायावाद का लेश भी नहीं है। वेद के अनुसार हम एक असली खेल खेल रहे हैं, और इसके परिणाम के ऊपर हमारा भविष्य निर्भर है। आज मेरा विचार इसी विषय के सम्बन्ध में कुछ मन्त्र तुम्हारे सामने रखने का है। सत्य काम जी ! यही अच्छा रहेगा कि थोड़ा २ विषय प्रतिदिन हम लेते चलें।

सत्य०—महाराज ! हम प्यासे हैं। जैसे इच्छा हो, अमृत पिलाते चलो। महात्मा जी ने एक मिनट के लिए कुछ ध्यान किया और फिर उपदेश आरम्भ किया—

(१) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति*॥

ऋग् १। १६४। २०

दीर्घतमा ऋषिः, विश्वेदेवा देवता, छन्दः भूरिक्पंक्तिः

---

* वेद-सन्देश में वेद का ही सन्देश होना चाहिए। वेद से तात्पर्य्य ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद है। मन्त्रों के साथ वेद का संकेत भी किया जावेगा, जो समझना कठिन नहीं। अंकों से तात्पर्य्य, ऋग्वेद में मण्डल, सूक्त और मन्त्र है, अथर्ववेद में काण्ड, सूक्त और मन्त्र है, यजुर्वेद में अध्याय और मन्त्र है, सामवेद में पू=पूर्वार्चिक; उ=उत्तरार्चिक, अंकों से प्रपाठक, दशतयी और मन्त्र है॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) अच्छी तरह विचरने वाले (सयुजा) साथी (सखाया) समान ख्याति वाले (समानम्) एकही (वृक्षम्) वृक्ष से (परि-सस्वजाते) सम्पूर्णता से चिमटे हुए हैं। (तयोः) उन दोनों (साथियों) में से (एकः) एक (पिप्पलं) फल को (स्वादु) स्वाद ले २ कर (अत्ति) खाता है (अनश्नन्) बिना भोग किये (अन्यः) दूसरा (अभि) चारों ओर (चाकशीति) प्रकाश करता है * ॥ १ ॥

प्यारो, इस एक मन्त्र ने सारे प्रश्नों का एक साथ बड़ा सुन्दर उत्तर दे दिया है। तीन भिन्न २ सत्ताओं का इस में स्पष्ट वर्णन पाया जाता है*। एक ओर तो एक वृक्ष है और दूसरी ओर उसे घेरने वाले दो चेतन तत्त्व हैं। कुछ बातों में यह मिलते हैं, पर कुछ एक में इन का परस्पर भेद पाया जाता है। थोड़ा ध्यान करने से तुम्हें इस मन्त्र के शब्दों की सुन्दरता तथा महिमा का पता चलेगा। हम 'वृक्ष' से आरम्भ करते हैं। यह क्या चीज़ है? यह वही सत्ता है, जिसे शास्त्रों में प्रकृति,

---

* सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र में से नवीन वेदान्त को निकालना चाहा है। वह प्रश्न उठाता है कि सम्बन्ध दो का ही होता है, एक ब्रह्म में मित्रता कैसी? उस का उत्तर उसे ही सन्तोष दे सकता है। अपनी ओर से तो वह इस युक्ति से भास्करादि द्वैतवादियों का भी खण्डन कर गया है। निरुक्त १४। ३० ॥ की ओर भी जाते २ संकेत करता है। पर वहां तो परमात्मा का शब्द पृथक् स्पष्ट पड़ा है। और, उस तरह यास्क ने दो प्रकार के आत्माओं पर ही घटाया है। वाक्यपदीय ८वीं कारिका की प्रकाशाख्य टीका में पुष्पराज ने भी इस मन्त्र में द्वैतवात ही समझा है।

प्रधान, माया, अव्यक्त आदि अनेक नामों से पुकारा गया है ।*
वेद में इसे वृक्ष क्यों कहा गया? इसका महत्त्व यदि जानना हो
तो किसी वैय्याकरण मित्र से इस के धात्वर्थ को सुन कर
विचार करना। हम यहां केवल इशारा कर देते हैं। वृक्ष शब्द
का मूलार्थ काटे, तराशे जाने वाला पदार्थ है †। लोक में
वृक्ष किसे कहते हैं? जिसकी शाखाओं को काटकर तुम समिधा
बना लेते हो, दरवाज़ों और खिड़कियों के तख़्ते बना लेते
हो, मेज़, कुरसियां और अलमारियां बना लेते हो। सुन्दर से
सुन्दर कारीगरी के नमूने दिखा सकते हो। पर तुम्हारी सारी
कारीगरियां इस संसार की भांति २ की रचनाओं के सामने
मात हैं। एक २ पत्ते और फूल में विचित्र सुन्दरता पाई जाती
है। इस सारी शोभा का आधार भी एक वृक्ष है, जिसके अव-
यवों को नाना प्रकार की तरतीब देकर सब से बड़ा कारीगर
अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहा है।

वृक्ष शब्द प्रकृति का वाचक है। इस बात को एक और
मन्त्र से स्पष्ट करता हूं।

(२) किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥ यजु० १७। २०॥

---

* श्वेताश्वतर० ४। १०॥ मैत्री० ६। १०॥ गीता० १३। १९, २०, २३॥
श्वेताश्वतर०। १। १०॥ ६। १६॥ कठ० ३। ११॥ ६। ८॥

† व्रश्च धातु काटने के अर्थ में है। इससे उणादि क्स प्रत्यय के योग से
वृक्ष शब्द बनता है। अर्थात् जो पदार्थ काटा जाए।

(किम्) कौनसा (स्वित्) प्रश्न होता है (वनम्) वह वन है (उ) और (कःसः) कौनसा वह (वृक्षः) वृक्ष (आस) है (यतः) जिसमें से (द्यावा पृथिवी) द्यु-लोक और पृथिवी लोक को (निः-ततक्षुः) बनाते हैं * (मनीषिणः) हे विद्वानो, (मनसा) सोच कर (इत्) ही (उ) और (तत्) उस के विषय में भी (पृच्छत) पूछो (यत्) जिसे (भुवनानि) लोकों को (धारयन्) धारण करते हुए प्रभु ने (अध्यतिष्ठत्) आधार बनाया॥ २॥

बढ़ई को एक मकान बनाना होता है। वह भी किसी अच्छे वन की अच्छी लकड़ी छांट कर लेता है। तो इस संसार को भी बनाते हुए विश्वकर्मा परमात्मा ने लकड़ी का क्या प्रबन्ध किया? लोगों ने इस विषय में किस कारण का पता लगाया है, उसे पूछो और सोचो। उसका ज्ञान पाते हुए जब तुम विद्वानों से प्रश्न करोगे और सोचोगे तो तुम्हें समझ में आ जावेगा कि जिस मूल प्रकृति के ऊपर शासन करता हुआ, प्रभु सब लोकों को धारण कर रहा है, उसी से ही उसने इन लोकों को बनाया है। वही वन है, उसी में से भिन्न २ प्रकार के परमाणु-संघ-रूपी वृक्षोंको जोड़ तोड़कर वह खेल खेल रहा है।†

---

* अर्थात् विद्वान् लोग बना हुआ मानते हैं।

† भाष्यकारों ने 'निष्टतक्षुः' को एक वचन केस्थान पर लिया है। पर ऊपर दिये अर्थ के अनुसार, इस व्यत्यय की आवश्यकता नहीं। उवट और महीधर ने इसका आशय यह लिया है कि प्रभु को जगद्रचना के लिये किसी कारणकी आवश्यकता नहींहै। शब्दों में तो केवल प्रश्न है। उत्तर में 'कोई

परमात्मा इस प्रकृति-वृत्त के ज़र्रे २ में समाया हुआ है। बल्कि इस से भी बढ़कर उस की महिमा है। वस्तुतः उस का कोई अन्त नहीं। इस विषय का विस्तार करने का आज विचार नहीं। आज तो संसार के स्वरूप का ही प्रतिपादन होगा। परन्तु जब परमात्मा का स्वरूप तुम्हारे सामने रक्खा जावेगा, तो इस प्रकरण को भी स्मरण रखना। इस मन्त्र में 'सुपर्ण' शब्द के प्रयोग से यह भाव ग्रहण करना है कि संसार चाहे कितना ही बड़ा हो, परमात्मा की जीवन-प्रदात्री सत्ता उस में रम रही है। यहां पर उस परम पिता के सम्बन्ध में दूसरी बात यह आयी है कि वह संसार के भोगों से सदा अलग रहता है। वह निर्लेप और निरञ्जन है। सारे जगत् का स्वामी है, पर उसे किसी भोग की आवश्यकता नहीं है। वह सर्व-शक्ति सम्पन्न और सब त्रुटियों से रहित है। अतः वह जन्म मरण के बन्धन और अवतार-वाद की लीला से सदा ऊपर रहने वाला है। वह सब कुछ देख रहा है। कोई वस्तु उस से ओझल नहीं। अब यहां तनिक विचारोगे। तो तुम्हें वैदिक सिद्धान्त का एक और महत्त्व पता लगेगा। द्रष्टा सदा दृष्ट के योग से ही होता है। जब तक दिखाई देने वाला पदार्थ न हो, तब तक किसी का साक्षी या द्रष्टा नाम पड़ ही नहीं सकता। अतः नित्य परमात्मा के साथ उस के प्रकाश से प्रकाशित यह संसार वृत्त भी नित्य है। जो लोग यह मानते हैं कि यह मिथ्या है, वह परमात्मा के

नहीं यह 'अपनी ओर' से जोड़ने का साहस उन का अपना है। प्रश्न आश्चर्य-जनक है न कि काकु।

द्रष्टृ-गुण को भी मिथ्या करना चाहते हैं। जो इसे अनित्य अर्थात् उत्पत्ति वाला कहते हैं, उन को यह समझना चाहिये कि जब यह जगत् न था, उस समय वह जगदीश्वर कौन से जगत् का ईश्वर था?

मा०—महाराज! क्षमा कीजिएगा। मैं कुछ कम-समझ हूँ। दूसरे चिरकाल तक साधु सन्तों की संगत में पड़े रहने से मेरा विचार कुछ उसी रंग में रंगा गया है।

सत्य—भाई, घबराते क्यों हो? अब तो ज्ञान-गंगा बह रही है। मन की एक २ तह को खोल २ कर हमें धो लेना ही ठीक है। जो सन्देह का लेश भी अन्दर छुपा पड़ा हो, उसे भी प्रकट कर देना चाहिये।

मा०—महाराज! जब ब्रह्म अविद्या की उपाधि से ग्रस्त होता है, तब ही द्रष्टा तथा दूसरे शक्तिमत्त्व आदि गुणों से सगुण होजाता है। इसलिए यह मिथ्या होने से संसार के मिथ्या होने में कोई बाधा न रहेगी।

महा०—प्यारे, यह बात सच्ची नहीं। अविद्या के फंदे में फंसानेवाला ब्रह्म के ऊपर और कोई पदार्थ नहीं। ब्रह्म ज्ञान स्वरूप होता हुआ अज्ञानी नहीं हो सकता। और फिर यह सारा विषय साधारण तर्क और इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। वेद में कहीं भी यह नहीं लिखा। वस्तुतः इस नवीन वेदान्त के लिए वेद में कोई पुष्टि न पाकर ही इस सम्प्रदाय के आचार्य्यों ने मूल वेद को गौण और उपनिषदों को मुख्य करने का प्रचार भी किया है। परन्तु यह भी मनमानी बात ही है।

कारण कि, उपनिषद् स्वयं स्पष्ट कहते हैं कि शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव परमात्मा का सब वेदों में वर्णन है*। वेदान्त सूत्रों में ब्रह्म में ही सब वेद शास्त्रों का तात्पर्य माना गया है†। वेदों में परमात्मा के निरूपण में जो मन्त्र हैं, उन में कहीं यह नहीं लिखा कि यह अविद्योपाधि से ग्रस्त ब्रह्म का वर्णन है। स्वयं उपनिषदों में, इस कभी भी समझ में न आनेवाली, अविद्या-पिशाची का कोई संकेत नहीं। अधिक न कहते हुए श्वेताश्वतर की एक श्रुति ही सुना कर बस करता हूँ।

"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च‡ ॥"

(एकः) एक (देवः) प्रकाश-स्वरूप प्रभु (सर्वभूतेषु) सब

---

*सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥
ओ३मित्येतत् ॥ कठ० उप० २। १५ ॥

†शास्त्रयोनित्वात्। तत्तु समन्वयात् ॥ वेदान्त सूत्र १। १। ३-४ ॥

‡श्वेताश्वर० ६। ११ ॥ तथा देखो, बृहदारण्यक० ३। ७। २३ ॥ ३। ८। ११॥

यहां पर परमात्मा को द्रष्टा, ज्ञाता आदि विशेषणों से जोड़ा है। वह द्रष्टा है, दृष्ट नहीं। इत्यादि वाक्यों का सभी यही अर्थ करेंगे कि यद्यपि वह सब को जान सकता है, उस का जानना कठिन है। यह और बात है, और जगत् को मिथ्या कहना सर्वथा और बात है।

प्राणियों में (गूढः) प्रविष्ट हो रहा है (सर्वव्यापी) सर्वत्र मौजूद है (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तरात्मा है। (कर्माध्यक्षः) सब के कर्मों का फल देनेवाला है (सर्वभूताधिवासः) सब प्राणियों का आश्रय है। (साक्षी) द्रष्टृ-स्वरूप है (चेताः) चेतनस्वरूप है (केवलः) एक, अद्वितीय, निर्लेप नारायण है। (निर्गुणश्च) और सब उपाधियों, सीमाओं, परिच्छेदों, प्रभावों से मुक्त है। यहां पर दोनों भाव एक साथ आरहे हैं। निर्गुण होता हुआ भी परमात्मा सब का साक्षी और अध्यक्ष है। यह अविद्या की गप्प हांक दी गयी है। वस्तुतः तर्क और प्रमाण दोनों ही इसके विरुद्ध पड़ते हैं। यदि तुम ध्यान से उपनिषद् को भी पढ़ोगे तो इन पाखण्डों का स्वरूप तुम्हें ठीक २ पता चल जावेगा।

मा०—महाराज, मेरे गुरु जी कभी २ एक मन्त्र बोला करते थे, उसे भी यदि आप समझा देते, तो ठीक होता।

महा०—हां, कहो। वह कौनसा मन्त्र है ?

मा०—महाराज, प्रमाण आदि का तो मुझे कुछ पता नहीं और न ही आज तक मैंने वेदों के पुस्तक देखे हैं। पर हां, अन्त में वह बोला करते थे,

'तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्'

महा०—बस जान लिया। डूबते को तिनके के सहारे वाली बात है। पर इस में मायावाद की गंध भी नहीं। सुनो, पूरा मन्त्र यह है:—

(३) परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परिलोकान् परि

दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ यजु० ३२। १२॥

प्रभु (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (लोकान्) सारे लोकों (दिशः) दिशाओं (स्वः) स्वर्लोक के (परि) चारों ओर (सद्यः) एक साथ (इत्वा) पहुंच कर (ऋतस्य) सच्चाई के (विततं) विस्तृत (तन्तुम) सूत्र का (विचृत्य) संहार करके उसने (तत) सारे अपने खेल पर (अपश्यत) दृष्टि डाली, तो (तत) वह (अभवत) होने लगा (तत) वह (पूर्व भी) (आसीत) था*।

इस में कहां कहा है कि यह सारे लोक मिथ्या हैं। यहां तो परमात्मा को सर्वव्यापक और सारे जगत को पूर्णतया उस के आधीन बतलाया है। भला, जगत हो ही न, तो वह देखे किसे और शासन किस पर करे?

इस मन्त्र से यह उपदेश मिलता है कि सृष्टि की अवस्था में प्रभु सब को अपने अन्दर घेरे हुए रहते हैं। सृष्टि-नियमों का तागा उन के हाथ में है। प्रलय के समय वह उसे खींच लेते हैं। इस का नाम संहार है। जब पुनः उन की दृष्टि सब तत्त्वों पर पड़ती है, अर्थात् उन की ओर से प्रेरणा होती है, तो जगत नये सिरे से बनने लग जाता है। पर यद्यपि परमात्मा के निमित्त के बिना एक परमाणु भी हिल नहीं सकता, तथापि

---

* ऋषिः स्वयम्भु ब्रह्म, देवता परमात्मा, छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्। वेदान्त के अनुसार अर्थ उवट और महीधर-भाष्य में किये हैं, वहां देखो।

यह मत समझो कि जगत् केवल उस के देखने से ही बन जाता है। वेद का सिद्धान्त यह है, कि यह मूल कारण की अवस्था में पहिले से ही विद्यमान होता है। वह कारण प्रभु की प्रेरणा का विषय है। दोनों कारण नित्य हैं। दोनों अकेले संसार की रचना नहीं कर सकते। यहां पर भी प्रभु को द्रष्टा कहा है। बिना दृष्ट=देखे गये पदार्थ के यह असंभव है।

यह प्रकरण परमात्मा का है, जीवात्मा का नहीं। परमात्मा ही सब लोक लोकान्तरों के चारों ओर समाया हुआ है। अतः इस का यह अर्थ करना, कि जीव जब अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करता है, तो वही=ब्रह्म ही बन जाता है, क्योंकि वह था ही वही, संगत नहीं हो सकता। वाक्य की रचना के अनुसार ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व सर्वव्यापकता का जीव में होना मानना पड़ेगा। यह बात मायावादियों को भी अभीष्ट नहीं। वह भी जीव को ऐसा नहीं मानते। इसी तरह ब्रह्म का जगदाकार हो कर भासना भी इस मंत्र से निकालना सम्भव नहीं है। मन्त्र के वाक्य विभाग के अनुसार इस में दिये हुए भावों का चित्र यह है:—

१. ब्रह्म=परमात्मा सब संसार में व्यापक है।

२. सत्य के विस्तृत सूत्र को वह पीछे खींचता है या अपने नियम में रखता है।

३. फिर वह उस पर=जगत् पर देखता है।

४. वह=जगत् बन जाता है।

५. वह=जगत् होता है।

यदि यह अर्थ स्वीकार किया जावे, तो भी सर्वव्यापक ईश्वर

के साथ २ जगत् भी नित्य मानना पड़ेगा। स्मरण रक्खो, वेद में कहीं भी ईश्वर के अविद्या-ग्रस्त होने का भाव नहीं पाया जाता। जगत् भी साथ नित्य मानने से दूसरा पदार्थ हो जाता है। एक ही वस्तु में व्याप्य, व्यापक भाव का भेद नहीं हो सकता। फिर ब्रह्म का देखना, उस के तद्रूप होने से पूर्व नहीं कहना चाहिये था। और यह कहना कि ब्रह्म वही=जगत् नहीं था, सब सिद्धांत के विरुद्ध है। वह कभी भी स्वरूप से जड़ जगत् नहीं था। अतः जीवात्मा का ज्ञान-द्वारा ब्रह्म बनना तथा ब्रह्म का जगद्रूप प्रतीत होना, दोनों ही पक्ष अयुक्त तथा प्रकरण के विरुद्ध हैं।

इस लिये इन वाक्यों को भिन्न २ करके प्रलय के पीछे नित्य अविनाशी मूल तत्त्व से प्रभु की देखने=निगरानी की शक्ति द्वारा जगत् की सृष्टि का होना ही तात्पर्यार्थ स्वीकार करना चाहिये। प्रथम वाक्य में 'तत्' कर्म (Object) और दूसरे दोनों में कर्त्ता (Subject) समझना चाहिये। 'भू' धातु यहां प्रकट होने तथा 'अस' विद्यमान होने के अर्थ में लेने से अर्थ की संगति ठीक लग जाती है। 'भू' का यह अर्थ अनेक प्रयोगों के आधार पर किया गया है, केवल कल्पना नहीं।

मा०—महाराज! मैं ने मूर्खता की जो संस्कृत का अभ्यास नहीं किया। मैंने अपना यौवन जड़ बुद्धि, झगड़ों में व्यतीत किया, उन के झूठे उपदेशों से विद्या में अरुचि हो गई, और मैं 'अहं ब्रह्म' के छींटे को मूछों पर चुपड़ कर वेदान्ती बन गया। अब आप की कृपा से मेरी आंखें खुलने लगी हैं।

सत्य०—महाराज! आप ने कहा था संसार भी नित्य है।

पर यह तो अनुभव के विरुद्ध है। यहां तो कुछ भी स्थिर नहीं * । न शरीर, न धन, न सम्बन्ध, शायद आप का अभिप्राय कुछ और था।

महा०–हां बेटा, मैंने कहा था, मूल-वृक्ष नित्य है †। यही तो वैदिक शिक्षा का महत्त्व है। परिवर्तन के होते हुए भी बीज का नाश नहीं होता। वृक्ष में यह बात सामने दिखाई देती है। वृक्ष गिर जाता है, पर वह नष्ट नहीं होता। उसका स्थानापन्न खड़ा हो जाता है। उसका पुराना शरीर नए वृक्ष के लिए खाद अर्थात् भोजन का कार्य्य करता है। ऐसे ही यदि ध्यान पूर्वक देखेंगे, तो सारा ब्रह्माण्ड एक बड़ा वृक्ष ही दीख पड़ेगा। आज विज्ञान जिस बात की पुष्टि करता है, वेद उस मूल प्रकृति के नित्यत्व को कितने सुन्दर प्रकार से प्रकट कर चुका है। अतः इस आशय को लेकर ऋषियों ने इस कारण को 'अजा' अर्थात् उत्पन्न न होने वाली भी कहा है। †

---

* 'अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म संचयः'॥

† तीनों तत्त्वों को पृथक् २ अनादि, नित्य स्पष्टतया इस श्रुति में कहा है।
"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः"॥
श्वेताश्वतर० ४। ५॥

सत्त्व, रजस् और तमस् गुणमयी सब विकारों की आदि मूल प्रकृति अजा, न पैदा होने वाली है। भोग भोगने वाला, जीव अज है। न भोक्ता, सदा स्वतंत्र, परमात्मा तीसरा अज है।

अब तीसरा पदार्थ जीवात्मा है। प्रकृति जड़ है शेष दोनों चेतन हैं। इस लिए उन्हें समान गुण वाले कहा है। दोनों साथी हैं। अनादि काल से चले आने वाले हैं, न जीवात्मा की उत्पत्ति होती है और न नाश हो सकता है। इस का फैलाव शास्त्रों ने अनेक प्रकार से किया है *। यह आत्मा ब्रह्म से भिन्न है। मित्रता अकेले की नहीं होती। दूसरे अविद्या-ग्रस्त का शुद्ध ब्रह्म से मेल भी क्या हो सकता है? मन्त्र के शब्द बड़े स्पष्ट हैं। इस के अर्थों में खींच तान करके भले ही कोई अद्वैत-वाद सिद्ध करले।

सत्य०-महाराज! कुछ लोग जीव की भी उत्पत्ति मानते हैं। इस में क्या दोष है?

महा०-जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होजाता है, तो फिर यह सारा सिलसिला किस लिए है? हम भलाई क्यों करें? अच्छे कार्य्य क्यों करें? तप और त्याग का उच्च आदर्श क्यों अपने सामने रक्खें? जब सब कुछ करने पर भी हमने रहना ही नहीं है, तो इन कार्य्यों में रुचि हो नहीं सकती। जिस २ पदार्थ की उत्पत्ति देखी जाती है, वह सावयव होता है। परन्तु आत्मा को सावयव मानने से संस्कारों के पहिचानने में समता और एक तार का तार टूटना चाहिए। आज हम एक आदमी को देखते हैं, दस वर्ष के पीछे भी उसे पहिचान

* बृहदारण्यक १।५।२॥ छान्दोग्य ६।११।३॥ कठ० २।१७॥ तथा गीता का दूसरा अध्याय। श्वेताश्वतर० १।९॥ प्रश्न० ५।७॥

लेते हैं। हमारे शरीर के परमाणु बदलते रहते हैं, पर आत्मा नहीं बदलता। यह स्वतन्त्र अभौतिक पदार्थ है, अतः इसकी उत्पत्ति का मानना ठीक नहीं है *। आंख, नाक आदि द्वारा पहुँचाये हुए संस्कारों को ठीक २ समझ कर, समय २ के अनुसार कार्य करने वाला, इच्छा-शक्ति से अपने दिमाग़ आदि अंगों से काम लेने वाला, सुख दुःख आदि को अनुभव तथा स्मरण करने वाला, प्रेम, राग और द्वेष आदि भावों का प्रकाश करने वाला तत्त्व वास्तव में पृथक् चेतन और नित्य ही है। इस के शरीर में प्रवेश करने से ही मूल जीवन-कोश बढ़ता हुआ, भिन्न २ आकारों को धारण करता है †। यह संस्कार-रूप नहीं, बल्कि संस्कार ग्रहण करने वाला है। यह ज्ञान-रूप नहीं, बल्कि, ज्ञाता अर्थात् जानने वाला है ‡। अतः जो वेदान्ती अथवा भूत-चेतनावादी लोग जिस प्रकार से जीव को ब्रह्म से अथवा

---

* विस्तार तथा शास्त्रीय ज्ञान के लिए देखो, न्यायदर्शन ३।१।१-२७॥ वैशेषिकदर्शन ३। २। ४॥ वेदान्तदर्शन २। ३। १७॥

† "यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति" ॥ मनु० १। ५६॥

‡ "ज्ञोऽतएव" ॥ वेदान्त २। ३। १८॥
"ज्ञ एवायमात्मा ज्ञातृस्वरूप एव, न ज्ञानमात्रं नापि जडस्वरूपः"—
रामानुजः श्रीभाष्ये। तथा—

छेत्तुश्छेद्यस्य चाभावे छेदनादेरसिद्धिवत्।
अतो ऽहमर्थो ज्ञातैव प्रत्यगात्मेति निश्चितम्॥
श्रीभाष्ये १। १। १॥

भौतिक जगत् से अभिन्न मानते हैं, सो उन का ऐसा करना प्रत्येक आत्मा का अपमान करना है।

सत्य०-महाराज! परमात्मा के साथ ही जीव को भी 'सुपर्ण' कहा गया है। क्या जीव भी सारी प्रकृति में पूर्ण हो कर विचरता है?

महा०-आर्य्य लोग जीवात्मा को इस अंश में दो प्रकार से मानते चले आये हैं। कुछ यह मानते हैं कि यह शरीर-मात्र में ही पूर्ण है, अर्थात् साक्षात् व्यापक है। दूसरे ऐसा समझते हैं कि शरीर में हृदय-देश में इस का मुख्य स्थान है, अपनी चेतना से सारे शरीर में कार्य्यों को करता रहता है *। जैसे दीपक एक स्थान पर पड़ा हुआ, सारे कमरे को प्रकाशित कर देता है, जैसे फूल सारे उद्यान को महका देता है, ऐसे ही यहां भी चेतना का सर्वत्र प्रकाश हो जाता है। यह हृदय मेरु-दण्ड अर्थात् रीढ़ की हड्डी में दोनों कन्धों के मध्य में, छाती के पीछे को माना गया है। वेद में इस विचार का

---

* देखो, वेदान्त सूत्र २। ३। २४॥ उपनिषदों में भी देश-विशेष में ही जीव की स्थिति कही है, देखो आगे हृदय तथा कोश शब्दों पर टिप्पण, ९९, १००॥

सर्वसाधारण हृदय से तात्पर्य उस चौ-कोठ हृदय ही समझते हैं जो हमारे फेफड़ों के बाएं और नीचे को, रक्त के शोधन तथा संचार का मूल-स्रोत है। पर नीचे दिये हुए प्रमाणों को देखकर, मूल में दिये हुए विचार की पुष्टि होती है।

(१) हृदय से असंख्य नाडियों का निकलना माना जाता है। देखो अथर्व० १०। २। २८॥ कौषीतकि० उ० ४। १९॥ छान्दोग्य० ३।

मूल भी पाया जाता है। इसी कारण परमात्मा को, जो कि

---

१२ ॥ ८ । ६ । १, ६ ॥ बृहदारण्यक० २ । १ । १९ ॥ ४ । २ । ३ ॥

(२) इसका मस्तक के साथ संबंध होता है और फिर सब प्रेरणा होती है। देखो अथर्व० १० । ८ । २६ ॥

(३) इडा, पिंगला, सुषुम्ना प्रसिद्ध नाड़ियां हैं। इन का वर्णन तथा संकेत सब अध्यात्म—विद्या के ग्रन्थों में मिलता है। इन के अवस्थान के लिए कुछ नवीन ग्रन्थों के प्रमाण देते हैं।

" गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डस्य देहभृत् ।
दीर्घास्थि मूर्द्धपर्य्यन्तं ब्रह्मदण्डेति कथ्यते ॥ १ ॥
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः ।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी " ॥ २ ॥

(उत्तरगीता २ । १३, १४ ॥)

" तालुमूले सुषुम्ना सा अधोवक्त्रा प्रवर्त्तते ।
मूलाधारस्थयोन्यन्ता सर्वनाडी समाश्रिता ।
सा बीजभूता तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिका ॥

(शिवसंहिता चतुर्थः पटलः)

(४) वेदान्तसूत्र २।३।२४॥ तथा ४।२।१७॥ में हृदय और ३।२।७॥ में नाड़ियों का वर्णन आता है । वहीं जीव का स्थान है—देखो शिवगीता १०।३६॥ तथा देवी भागवत में देवीगीता ६।४१—४२॥ तथा हृत्पद्म के लिए देखो शिवगीता, १० । २४—२५ ॥

(५) आधुनिक विचारकों ने अभी पूरी तरह यह निश्चय नहीं किया कि जीवन का मूल—स्रोत देह में कहां है। मस्तिष्क में ही अब तक माना जाता था। पर, कुछ नये अनुभवों ने रीढ़ की ही प्रधानता सिद्ध की है। इस लिए अब विचार

आत्मा का अन्तरात्मा है, हृद्देश में ही ध्यान आदि के लिए ठहरा हुआ माना गया है *। इस विषय में वेद का सिद्धान्त इन मन्त्रों से निश्चित हो रहा है।

† (४) अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

अथर्व १०। २। ३१॥

(देवानाम्) दिव्य (पूः) पुरी अर्थात् मानुष काया (अयोध्या) अति बलवाली (नवद्वारा) नौ द्वारोंवाली ‡ (अष्टचक्रा) आठ

प्राचीन ऋषियों की बतायी हुई बात की ओर ही झुका चला जाता है। परिचय के लिए देखो—

Dr. Sperrington's article on 'Spinal Cord', Encyclopedia Britannica, 11th edition, Ladd, Physiological Psychology, pp. 249-50, 265-67 and 298 for quotations of and references to connected views and experiments.

* ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

गीता १८। ६१॥

तथा देखो छान्दोग्य ८।१।१॥ तथा अन्य प्रमाण जो कि पृष्ठ ६९ के टिप्पण में दिये गये हैं॥

† ऋषि, नारायण; छन्द, अनुष्टुप्; देवता साक्षाद्ब्रह्मप्रकाशिनी।

‡ दो आंखें, दो कान दो नासिकाएं, एक मुख और दो मल-मूत्र बाहिर फैंकने के छिद्र।

चक्रोंवाली * जाननी चाहिए। (तस्यां) उस में (हिरण्ययः) प्रकाश-स्वरूप (कोशः) कोश है, वह (स्वर्गः) स्वर्ग है, क्योंकि वह (ज्योतिषा) ज्योतिस्स्वरूप परमात्मा से (आवृतः) व्याप्त हो रहा है॥

(५) तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

अथर्व १०।२।३२॥

(तस्मिन्) उस (हिरण्यये कोशे) चमकते हुए कोश में (त्र्यरे) जिस में तीन अरे लगे हैं, और (त्रिप्रतिष्ठते) जिस के तीन आधार हैं; † (तस्मिन्) उस में (यद्) जो

---

* आठ चक्रों से तात्पर्य आठ धातु हैं। शरीर का यही सारा स्वरूप है। वे यह हैं—त्वचा, मांस, हड्डी, रुधिर, मेद, मज्जा, वीर्य्य और ओज। या गीता के अनुसार शरीर के आठ विभाग इस तरह भी ले सकते हैं, पांच भूत, मन, बुद्धि और अहंकारः—

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा"॥ गीता ७।४॥

† अरे का प्रयोजन परिधि को नाभि से जोड़ना है। प्रत्येक अन्तः करण प्रकृति की परिधि पर स्थित एक बिन्दु के समान है। मूल प्रकृति के साथ उसे तीन गुण=सत्त्व, रजस् और तमस् ही अवस्था-भेद से जोड़ते हैं। इसी प्रकार हृदय-देश में चेतनता का स्रोत है। उस के आधार पर सारा शरीर प्रतिष्ठित होता है। शारीरिक सत्ता तीन भागों में बट रही है। स्थूल तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-क्रिया=अन्नमय तथा प्राणमय कोश; मनोमय, जिस में मन; और विज्ञानमय, जिस में बुद्धि की प्रधानता रहती है।

(यक्षम्) पूज्य प्रभु (आत्मन्वत्) जीवात्मा से युक्त है, (तद्) उसे (वै) ही (ब्रह्मविदो) ब्रह्मवेत्ता लोग (विदुः) जानने की इच्छा किया करते हैं।

* (६) पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

अ० कां० १० । ८ । ४३ ॥

(नवद्वारं) जिस के नौ द्वार हैं, ऐसा (पुण्डरीकं) कमल (त्रिभिः) तीन (गुणेभिः) गुणों से (आवृतम्) घिरा हुआ है। शेष पूर्व मन्त्र के समान ही है। इन मन्त्रों से यह विदित होता है कि वेद के अनुसार प्रभु ही जीवात्मा नहीं, वरन जीवात्मा भिन्न है और प्रभु उस के अन्दर † प्रकाश कर रहा है। यह

---

* ऋषि, कुत्स; देवता, अध्यात्मम्; छन्दः भूरिग् अनुष्टुभ् ॥

† एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥

बृहदारण्यक० ४ । ३ । २१ ॥

"यो विज्ञाने तिष्ठन्" इत्यादि भी देखो, बृहदारण्यक० ३।७।२२ ॥

यहां 'विज्ञान' का अर्थ शंकराचार्य जीवात्मा ही करते हैं। अपनी बात को पुष्ट करनेके लिये माध्यन्दिन शाखा का पाठ-भेद 'आत्मनि' भी देने की कृपा करते हैं। अर्थ स्पष्ट है। परमात्मा आत्मा में अन्तर्यामी होकर मौजूद है। आत्मा उसके शरीर के समान है, इत्यादि। यह सब कुछ ठीक करके शंकर महाराज को अपना मायावाद फिर पीछे घसीटता है और वह उसी चक्र में पड़ कर इस स्पष्ट भेद को मिथ्या बतलाने की चेष्टा करते हैं। देखो शांकरभाष्य, वेदान्त सूत्र १ । २ । २० ॥

आत्मा एक सुनहरी, चमकीले कोश में निवास करता है और यह कोश शरीर के एक भाग में है। इसे कमल के रूप में भी प्रकट किया गया है। इन विषयों को उपनिषदों तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों ने भिन्न २ प्रकार से विस्तार करके वर्णन किया है *।

और सुनो वेद कितना स्पष्ट है:—

(७) न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥

यजु० १७। ३१॥

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ गीता १३। २२॥

* देखो मुण्डक० २। २। ९ वासुदेव० ३; आत्मप्रबोध० १; कैवल्य० ५; मैत्री० ६।१॥ छान्दोग्य० ८।८।३॥ बृहदारण्यक० ४।३।७॥ कठ० ६।९॥ श्वेताश्वतर० १।३।३॥ मैत्री० ६।२७,३०,३४॥ प्रश्न० ३।६॥ योगतत्त्व० ९; गीता १५। १५॥ छान्दोग्य० ३।१४।३॥ बृहदारण्यक० ४।२।३॥ ४।४।२॥ इत्यादि, अनेक स्थलों पर आत्मा को हृदय में विराजमान होता हुआ माना गया है। प्रभु का दर्शन उस आत्मा में वहीं पर ही हो सकता है। अतः ध्यानादि वहीं पर करने का उपदेश पाया जाता है॥

स्वामी दयानन्द जी ने जब लिखा कि रीढ़ की हड्डी पर ध्यान लगाना चाहिए, तो लोग उपहास किया करते थे। पर, यह उन की अपनी मूर्खता का ही विलास था। वहीं तो पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का निवासस्थान=हृदय है और उसी कमल-रूप में प्रतिष्ठित सूक्ष्म आत्मा को अपने अन्दर सूक्ष्मतर प्रभु के दर्शन होते हैं। अब पाठक प्रार्थना में अन्तिम श्लोक के अर्थों पर पुनः ध्यान करें॥

हे मनुष्यो, तुम (तम्) उस परमदेव को (न) नहीं (विदाथ) जानते हो, (यः) जिस ने (इमाः) इन प्रजाओं को (जजान) उत्पन्न किया हुआ है। (युष्माकम्) तुम्हारे (अन्तरम्) अन्दर (अन्यत्) तुम से भिन्न वह (बभूव) विराजमान है। संसार के लोगों से वह क्यों दूर है, इस का भी हेतु बतलाया है। वे लोग (नीहारेण) अविद्यारूपी कुहीर से तथा (जल्प्या) कुतर्कों और शुष्कवादों से (प्रावृताः) घिरे रहते हैं (च) और (असुतृपः) सांसारिक विषयों की तृप्ति को ही लक्ष्य बनाते हैं। ऐसे ही (उक्थशासः) स्तोत्रपाठी ही (चरन्ति) बने फिरते हैं॥ क्या सुन्दर भाव है। परमात्मा हमारे अन्दर है, पर हमारी प्रवृत्ति उधर नहीं। हमारा ध्यान विषयविलास की पूर्त्ति में ही लगा रहता है। हम कुतर्कों में पड़े रहते हैं या तोते की भान्ति विना अध्यात्मतत्त्व के ज्ञान के मन्त्रों की रट लगाये जाते हैं। इसी का यह फल है कि यह मन्त्र हमारे लिये चुप रहते हैं।

मा०-महाराज! यह तो अब खूब समझ में आगया कि संसार में तीन अनादि तत्त्वों का मानना ही ठीक है। पर यह जो आप ने मन्त्र का अर्थ करते हुए कहा था, कि जीव फलों को स्वाद से भोगता है, इस में अभी कुछ आशंका है। सारा संसार तो दुःख की ही शिकायत करता है। जीवन को दुःख-सागर ही कहा जाता है। वेदान्त में, बुद्ध-धर्म में तथा अन्य मतों में भी इस लोक को जाल से उपमा दी गयी है। इस विष-वृक्ष से सुख की उपज कैसे?

महा०-प्रिय! अभी कहे हुए संसार के स्वरूप को मन में स्थिर करो। आज तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं दे सकूंगा। पर, इतना कह सकता हूँ, कि न संसार सर्वथा सुखमय है

और न दुःखमय ही है। हम अपने कर्मों से जैसे चाहें, इसे अपने लिए बना लेते हैं। वेद में 'स्वादु' के प्रयोग का प्रयोजन यह समझाने का है कि सुख तो स्वाद से भोगना ही है, दुःख भी यदि आवे, तो प्रभु को न कोस कर, अपने ही अपराध को समझने का स्वभाव डालना चाहिए। वेद का यह आशय भी अवश्य है कि यहां यदि हम समझ सोच कर रहें तो वस्तुतः प्रभु ने सारी सामग्री सुख के लिए ही बनायी है। पर हम ने अपनी मूर्खता के कारण अपने जीवन को दुःखरूप बना लिया है। इस अवस्था में भी सुख का आदर्श हमारे से ओझल नहीं होता। डूबते २ जो सहारा मिल जाता है, उसे भी आनन्द से ग्रहण करते हैं और फिर आने वाले सुख की प्रतीक्षा करते हुए बीच वाले दुःख को भी शान्ति से धारण कर लेते हैं। यह साधारण सांसारिक अनुभव की बातें हैं *। आज के लिए विचारने योग्य बात चीत बहुत होगयी है। वेद अथाह है। जितना सुनें, उतना ही पुण्य है। कल ठीक समय पर आजाइए।

सत्यकाम और मायाराम ने महात्मा के पांव छुए और कभी वेद की महिमा, कभी गुरु की कीर्त्ति का गान करते हुए अपने आश्रम पर आ पहुँचे॥

इति तत्त्व-सन्देशे प्रथमाध्याये प्रथम उच्छ्वासः॥

---

* यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥ (कालिदासः)
सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते,
घनान्धकारेष्विवदीपदर्शनम्। (शूद्रकः)

द्वितीय-उच्छ्वास

सुख-दुःख

महा०-मायाराम जी, कल जब आप चले गये, तो मैं ने अन्त वाली बात पर फिर विचार किया। मेरी इच्छा यह है कि आज आप को बतलाऊं, कि वेद के अनुसार सुख और दुःख का विभाग कैसे होता है और, कि दुःख दूर कैसे हो सकता है?

सत्य०-महाराज, इस के साथ ही यह भी स्पष्ट करिये कि दुःख है ही क्या? क्या यह कोई स्वतन्त्र पदार्थ है या केवल सुख का न होना ही दुःख है?

महा०-कुछ उदाहरणों से ही यह अति कठिन विषय सुगम हो जावेगा। एक मनुष्य एक काम करना चाहता है, दूसरा उस के मार्ग में बाधारूप हो रहा है। उसे दुःख होता है। रोगी का चित्त चाहता है, चटपटी वस्तुओं को खाऊं। वैद्य रोकता है। उसे दुःख होता है। बालक चान्द पकड़ने की इच्छा से उछलता है। गिर पड़ता है और चान्द भी नहीं मिलता, उसे दुःख होता है। मैं चाहता हूँ कि कभी भी बीमार न होऊं, पर अचानक हो जाता हूँ, मुझे दुःख है। मेरे भोजन का समय है। रोटी में देर हो जाती है। मुझे दुःख है। कुछ काम करते २ चाकू से उंगली कट जाती है, दुःख होता है। कोई संबन्धी मरता है, दुःख होता है।

इन उदाहरणों को हम कुछ विभागों में बांट सकते हैं। (१) परतन्त्रता के कारण दुःख (२) अशक्तता के कारण दुःख (३) मूर्खता के कारण दुःख। यदि गहरी दृष्टि से देखा जावे, तो अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान ही दुःख का मुख्य कारण है। जब एक आदमी जानता है कि अमुक कार्य्य अवश्य एक दूसरे आदमी के आधीन है और वह नहीं चाहता कि उसे किया जावे, तो जो सुखी रहना चाहता है उसे उस के करने की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए। एक मनुष्य स्वास्थ्य के नियमों को भली भान्ति समझ कर उन का पालन करता है, वह सुखी है। जो उन का उल्लंघन करता है, वह अपने ही अज्ञान के कारण दुःख पाता है। जब बालक बड़ा होता है वह अपनी पहिली मूर्खता से लज्जित होता है। अब वह चान्द के ग्रहण करने की लालसा नहीं करता। इसी प्रकार दूसरे उदाहरणों में भी घटा कर देख सकते हैं कि, यदि वास्तविक समस्या का ठीक स्वरूप समझ लिया जावे, तो बहुत सा दुःख दूर हो जाता है। सन्तोष और शान्ति पैदा होकर सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है। दुःख के अपने भी दो विभाग हैं। एक तो केवल सुख के अभाव को ही दुःख कह लेते हैं। जैसे किसी का सम्बन्धी मर गया है। उसे क्या दुःख है? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो यही निश्चय होता है कि उस संबंधी के दर्शन, मेल-मिलाप अथवा सहयोग से जो उसे शारीरिक, मानसिक अथवा अन्य किसी प्रकार का लाभ होता था, उस का अभाव ही अब सहा नहीं जाता। यह इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है

कि जब कोई ऐसा संबंधी मरता है, जो क्लेश दिया करता था, तो उसे वस्तुतः अन्दर से कोई दुःख नहीं होता। लोगों को दिखाने के लिए भले ही आंसू गिरा लेता हो। परन्तु जब मेरी उंगली कट जाती है, तो जो दुःख होता है, वह केवल उस सुख का अभाव ही नहीं, जो उस के कटने से पूर्व मैं अनुभव करता था, बल्कि वास्तविक पीड़ा भी होती है। अतः इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि दुःख भी स्वतन्त्ररूप से संसार में मौजूद होता है।

मा०-जो २ परवश होता है, वह दुःख होता है, यह लक्षण क्यों न माना जावे? एक दास-जाति स्वतन्त्रता चाहती है। विदेशी राजा उसे दबाए रखता है। यहां परतन्त्रता ही से दुःख होता है। इसी तरह चान्द चाहने वाला बालक भी पृथिवी आदि के आकर्षण के नियम के वश में फंसकर ही दुःखी होता है। बहुधा देखा गया है, हज़ार नियम पालन करने पर भी रोग आ दबाता है। उस समय सभी कहते हैं, सुख दुःख शरीर का भोग है, किसी के बस की बात नहीं। यह हमारी परतन्त्रता ही है, जो आकाश में उड़ने से हमें रोकती है। इस पराधीनता के ही कारण इस संसार-चक्र में हम पड़ते हैं। यही पिशाची हमारी सब भावनाओं और उमंगों को पद-दलित करके, घूरती हुई सब दुःखों का मूल बनी हुई दिखाई देती है।

महा०-क्यों सत्यकाम जी, आप का इस विषय में क्या विचार है।

सत्य०-महाराज, जो आप ने अभी उपदेश किया है, मुझे

तो उसी में ही सच्चाई प्रतीत होती है। परतन्त्रता के ऊपर विचार करते हुए मुझे इसके दो प्रकार दिखाई देते हैं।(१–) स्वाभाविक (२–) अज्ञान–जन्य। जीवात्मा अनादि होता हुआ भी सदा परमात्मा के नियमानुसार ही रहने से सुखी रह सकता है। इस परतन्त्रता में सुख तो है, परन्तु दुःख नहीं। दूसरी परतन्त्रता सचमुच दुःख–दायक है। पर, वह हमारे अपने अपने अज्ञान की उपज होती है। अज्ञान के ही कारण मान, मोह, ईर्षा, द्वेष आदि दुर्गुण, देश विद्रोह तथा कुल–विक्रय आदि क्रूर पाप हम में आते हैं। जब भाई २ के ख़ून का प्यासा फिरता है, तो तीसरा आकर पंच बन बैठता है। जैसे एक प्रसिद्ध कथा में दो बिल्लियों को एक वानर ने रोटी से वञ्चित कर दिया था, वैसे ही यह राजनैतिक पंच भी दोनों पक्षों को नीचे गिरा कर, उनकी ग्रीवा पर सवार होकर क्रियात्मिक रूप से सांसारिक नीति का उपदेश करते हैं। अतः इस परतन्त्रता से पैदा होने वाले दुःखों की परम्परा का मूल कारण अज्ञान ही हुआ। बालक के रोने में भी अज्ञान का ही खेल दिखाई देता है। आकर्षण–शक्ति ही तो उसे इस पृथिवी पर बसा, जीवन के निर्वाह में सौ तरह से सहायता दे रही है, और पृथिवी को सूर्य्य के चारों ओर घुमा रही है। यदि एक क्षण के लिए ही इस में अणुमात्र भी अन्तर पड़ जावे, तो कोई कहां हो, कुछ पता नहीं। अज्ञान–वश ही वह बालक अपनी स्थिरता की कारण शक्ति का मुकाबिला करके जब अस्थिर होने से रुकता है, तो उस का शोक करना क्या कोई कम तमाशे की बात है! इसी प्रकार रोगी के उदाहरण से भी समझ

लेना चाहिए। जितना वह नियमों का अधिक पालन करता रहा, उतना ही उसे अब दुःख कम तंग करेगा। अभी आपने उपदेश किया है कि संसार में तीनों तत्त्व अनादि हैं। प्रत्येक के लिये अपने २ स्वरूप के अनुसार कुछ नियम हैं। उनका उचित प्रकार से चलना ही संसार है। यदि प्रत्यक्ष कोई दोष न होने पर भी मनुष्य को कोई दुःख आ घेरता है, तो उसे यही विचार करना चाहिए कि मैंने इस जन्म से पूर्व अपने जीवन में अज्ञान के कारण कुछ बुरे कर्मों का सञ्चय किया था। उसे ही अब भोग कह कर पुकारते हैं। उसके लिए परमात्मा का कोई दोष नहीं। वह अपनी ओर से न किसी के साथ अन्याय करते हैं, और न किसी के प्रति क्रूरता करते हैं *। हम स्वयं ही बनते हैं और स्वयं ही अज्ञान के कारण बिगड़ते हैं।

महा०—बहुत ठीक। आपने मेरा भाव समझ लिया है। असम्भव की इच्छा करना अनुचित है। उसका पूरा न होना वस्तुतः दुःख नहीं, वरन सुख ही है। जो प्राणी उस परम पिता के शासन में रहते हुए, सर्व प्रकार का ज्ञान सम्पादन कर, मर्यादा

---

* "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति'। वेदान्त २।१।३४॥

इसकी व्याख्या करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं:—

"अतः सृज्यमानप्राणिधर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः'। अपना कर्म ही हमारे जीवन के लिए उत्तरदायी है।

'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'। बृहदारण्यक ३।२।१३॥

'यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति......यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते। बृहदारण्यक० ४।४।५॥

में रहते हैं, कल्याणकारी नियमों को अपने आचरण में लाते हैं, उन्हें सुख होता हैं। संसार दुःखमय नहीं। सभी के लिए यह सुखमय बन सकता है। केवल ज्ञान, आचरण और मर्यादा की आवश्यकता है। परमात्मा और सृष्टि का ज्ञान पैदा करके जीवन के प्रत्येक विभाग में उन्नत होना और अन्त में मोक्ष के आनन्द का भागी बनना ही हमारा आदर्श है। इस की प्राप्ति अति दुर्लभ है। कोई २ विरला, महात्मा ही पार पहुंचता है। पर जितने पग धरे जा सकें, उतना ही सुख है।

जितना प्रभु-भक्ति से सन्तोष उपजता है, उतना सुख है। जितना पापाचरण करके सुख रुकता है, उतना दुःख है। कल आप को ऋ० १। १६४। २० के आधार पर उपदेश किया था। आज मेरे सामने मं० २१ वां और २२ वां हैं। अब आप आसानी से इनका अर्थ समझ जावेंगे।

*(१) यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।

---

* ऋषि, दीर्घतमाः; देवता, विश्वेदेवाः; छन्दः, त्रिष्टुभ्। निरुक्त-कार ने इसे सूर्य्य तथा जीवात्मा पर लगाया है। श्री सायणाचार्य्य ने यास्क का अनुसरण करते हुए भी मायावाद को सूंघने का यत्न किया है। पर यहां तो उस की गन्ध भी नहीं। आविष्ट होने वाला और करने वाला अलग २ वर्णन हो रहे हैं। इसका नाम खींच तान है। ग्रिफ़िथ के अनुसार सुपर्ण=ऋत्विज और इनः=सोम। पर कोई प्रमाण नहीं। सुपर्ण=जीव, श्वेताश्वतर० ने तथा स्वा० दयानन्द ने ऐसे ही लिया है। ऊपर देवता पर ही भाष्यकार ध्यान करते, तो क्यों बेसुध होते।

इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥ ८ ॥

ऋ० १ । १६४ । २१ ॥

(यत्र) जिस प्रभु में (सुपर्णाः) समस्त प्राणी (अमृतस्य भागम्) अमृत अर्थात् मरण से छूटने के भाग को (अनिमेषम) निरन्तर (विद्या) ज्ञान द्वारा (अभि-स्वरन्ति) प्राप्त करते हैं, (सः) वह (विश्वस्य) समग्र (भुवनस्य) ब्रह्माण्ड का (इनः) स्वामी (धीरः) सर्वज्ञान से युक्त , (पाकम्) पक्के ज्ञान को (मा) मुझे (आविवेश) स्वयं कृपालु हो कर प्राप्त करावे । अर्थात् परमात्मा जिस प्राणी के हृदय-मन्दिर में अपना सिंहासन जमाते हैं, जिस के श्रद्धा-भाव को वह स्वीकार कर लेते हैं * वह सब नियमों का ज्ञाता होकर सब दुखों से मुक्त हो जाता है । जब तक उस जगदीश्वर की कृपा नहीं होती, हम अन्धकार में ही डोलते हैं * । इस लिए प्रभुभक्ति से, सच्ची श्रद्धा से दिव्य-ज्ञान उपार्जन करने का ही यत्न सबको करना चाहिये । इसी प्रसंग में एक दूसरे स्थान से मन्त्र आप को सुनाता हूं ।

(२) "†अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषे-

---

* नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्य तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

मुण्डक ३ । २ । ३ ॥

† ऋ० ऋषि वागाम्भृणी, देवता वागाम्भृणी; छन्दः त्रिष्टुप् ॥

भिः । यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ९ ॥"

ऋ० १० । १२५ । ५

(अहम्) मैं दिव्य-वाणी (स्वयं) अपने आप (एव) ही (इदं) यह कहती हूं । मेरे इस कथन का (देवेभिः) देवताओं (उत) और (मानुषेभिः) साधारण मनुष्यों ने (जुष्टम्) अनुभव किया हुआ है । (यम्) जिसे (कामये) मैं स्वीकार करती हूं (तं तम्) उस २ को (उग्रम्) ओजस्वी (ब्रह्माणम्) सब वेदों का विद्वान (ऋषिम्) सूक्ष्म दर्शन वाला तथा (सुमेधाम्) अच्छी बुद्धि वाला (कृणोमि) बना देती हूं ।

अब कल वाले मन्त्र के साथ विषय की संगति जुड़ जानी चाहिए । ज्ञानी पुरुषों के लिए संसार और मनुष्य जीवन मोक्ष का उपाय है । वह अपने कर्म का फल स्वाद अर्थात् शान्ति-रस से युक्त होकर भोगते हैं । अज्ञानी लोगों के लिए यह जीवन वस्तुतः दुःखरूप होजाता है, यह उसके आगे २२ वें मन्त्र का भाव है । वह मन्त्र इस तरह है ।

(३) *यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे । तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥ १० ॥

ऋ० १ । १६४ । २२ ॥

---

* ऋषि दीर्घतमाः, देवता विश्वेदेवाः,—छन्दः स्वराट् पंक्तिः ॥

(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) वृक्ष पर (मध्वदः) सुख की कामना करने वाले * (सुपर्णाः) जीव (निविशन्ते) निवास करते (च) और (अधिसुवते) उत्तरोत्तर अपनी वृद्धि करते हैं, (इत्) निश्चय रूप से (तस्य) उस के (पिप्पलम्) फल को (स्वादु-अग्रे) क्रमशः स्वादु (आहुः) कहते हैं। (तत्) उस स्वादु फल को (उत्) वस्तुतः वह (न) नहीं (नशत्) प्राप्त होता (यः) जो इस सम्पूर्ण जीवन के (पितरम्) नियामक प्रभु और उस के नियमों को (न वेद) नहीं जानता और उन पर नहीं चलता † ।

यह संक्षेप से वेद के अनुसार सुख और दुःख की व्यवस्था है। जीवात्मा को पूर्ण स्वतन्त्रता है, जैसे चाहे अपने आप को बना ले। परन्तु सुख-सिद्धि के लिए तत्व-ज्ञान का होना अत्यन्त आवश्यक है ‡ । यह नहीं हो सकता कि उस मार्ग पर

---

* स्वाद ले २ कर खाने वाले, स्वादु मधु अर्थात् मीठे फलों के खाने वाले, सुख के इच्छुक।

† इस मन्त्र में वृक्ष और सुपर्ण का वही अर्थ है, जो पूर्व हो चुका है। सायण फिर भी वृक्ष=परमात्मा करता हुआ नहीं घबराता। सुपर्ण=इन्द्रिय करके परमात्मा के साथ जोड़ता है। उसका वेदान्त यहां भी उसके साथ है। ग्रिफ़िथ तो निराश होचुका है कि कोई ठीक अर्थ नहीं जानता।

‡ किस प्रकार मिथ्या ज्ञान से दोषवान् होकर, कर्मबन्धन में मनुष्य पड़ कर जन्म जन्मान्तर में दुःख पाता है और कैसे तत्त्व-ज्ञान के हो जाने पर इस कष्ट का मूलोच्छेद हो सकता है, इस के लिए न्याय-शास्त्र में गोतम मुनि १।१।२ में कहते हैं:—"दुःखजन्म-प्रवृत्ति-दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" ॥ इसी प्रकार "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति" ॥ श्वेताश्वतर०, ६। २० ॥

चले विना ही आनन्द को पा सके। इस जीवन में भी जीवात्मा उन्नति अथवा अवनति कर सकता है। पर, केवल एक जीवन में समाप्ति नहीं हो जाती। आत्मा नित्य है। अपने २ कर्मानुसार हमारी गति होती है। आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म का मूल स्वरूप और परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन वेद के अनुसार अब कल ही आप के सामने रक्खूंगा। सोने से पूर्व आज के वार्त्तालाप के ऊपर अवश्य विचार करके परमात्मा से प्रार्थना करना कि 'हे भगवन्! हमें अपनी शरण में स्वीकार करो'।

इति तत्व-सन्देशे प्रथमाध्याये द्वितीय उच्छ्वासः ॥

तृतीय उच्छ्वास

जीवका वर्णन ।

सत्य०–महाराज ! आप ने कल कहा था कि आज आप जीवात्मा की नित्यता तथा मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीरों में गति का वर्णन सुनाएंगे । अवश्य ही यह कृपा कीजिए । मेरे एक मित्र अभी विलायत से पढ़कर आए हैं । उनका कहना है, कि आत्मा के सम्बन्ध में वेद में विशेष उपदेश नहीं । पुनर्जन्म के विषय में तो वह ऐसा कहते थे, कि यह सिद्धान्त भील और गोण्ड आदि जातियों से आर्य्यों ने ग्रहण किया है और इस का वेद में कोई मूल नहीं पाया जाता * । भगवन्, आज कल पश्चिमी विचारों का ही अधिक प्रचार है । इसलिए कुछ ऐसे मन्त्रों का उपदेश करें, जिन से इस विषय पर प्रकाश पड़े ।

महा०–जैसा कि मैंने गत दो तीन दिनों में आपके सामने वेद के अनुसार संसार के स्वरूप को वर्णन करने का यत्न किया है, ऐसे ही आज भी जीवात्मा के विषय में मुख्य रूप से कहता हूं ।

"It seems hardly likely that so far-reaching a theory should have been developed from the stray fancies of one or two later Vedic poets. It seems more probable that the Aryan settlers received the first impulse in this direction from the aboriginal inhabitants of India." MacDonell. Sanskrit Literature, p. 387.

* "(१) अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् । जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ११ ॥"

ऋ० १ । १६४ । ३० ॥

आत्म-अनुभव को प्राप्त कर के कोई योगी महात्मा अपने स्वरूप को इस प्रकार प्रकट करता है। (पस्त्यानाम्) शरीर रूपी घरों के (मध्ये) मध्य में (ध्रुवम्) निश्चल रहते हुए (जीवम्) प्राण को धारण करते हुए, मेरी इस क्रिया से ही (अनत्) श्वास लेते हुए (एजत्) कांपते हुए और (तुरगातु) शीघ्र-गतिवाले (शरीर को) (आ-शये) धारण कर रहा हूं। (मृतस्य) जिसे हम मरा हुआ कहते हैं, उसका (जीवः) जीवात्मा (वस्तुतः) मरता नहीं, बल्कि (स्वधाभिः) अपने कर्मों अथवा संस्कारों के द्वारा (चरति) विचरता है। (अमर्त्यः) वह मरने वाला नहीं है (मर्त्येन) मरने वाले (शरीर) के साथ (सयोनिः) इकट्ठा प्रकट होता है †।

---

* ऋषि दीर्घतमाः; देवता विश्वेदेवाः; छन्दः पङ्क्ति ॥

† सायण भाष्य करता हुआ कहता है:—"अनेन देहस्यासारता जीवस्य नित्यत्वं च प्रतिपाद्यते"। अर्थ में थोड़ा सा भेद है। ह्विटने तथा सायण तीसरे पाद में रुकते हैं। इस प्रकरण के मन्त्रों के पाठ से 'स्वधा' का युक्त अर्थ स्पष्ट होजावेगा। स्व-धा=अपने में धारण किया जाने वाला संस्कारों या कर्मों का समूह। स्वा० दयानन्द ब्रह्म पर लगाते हैं। पर अर्थ पूरा करने के लिए एक वाक्य साथ जोड़ना पड़ता है।

इस मन्त्र में जन्म और मरण के रहस्य को बड़ी उत्तमता से खोला है। यह वही जीव की अमरता का सिद्धान्त है जो आर्य्यधर्म की एक बड़ी विशेषता है। यह वही अभय करने वाला सिंहनाद है, जिस ने उत्साह-हीन अर्जुन को पुनः खड़ा किया, जिस ने वैदिक धर्म के बड़े २ सेवकों को जान हथेली पर रखकर काम करने के लिए तैय्यार किया। मनुष्य केवल मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला नहीं है। आत्मा केवल वायुरूप या नाश हो जाने वाला सांस भी नहीं है, यह वह तत्त्व है जो शरीरों को धारण करता हुआ भी निश्चल रहता है। इस की शक्ति से जड़ देह भी श्वासादि की क्रियाओं को करने लग जाता तथा नाना प्रकार से गति-युक्त होजाता है। सोचा जावे, तो इस नियन्ता की चेतन-सत्ता का वियोग होते ही, जीवन और मरण का भेद खुल जाता है। नासिका भी है, फेफड़ा भी है, मुँह भी खुल रहा है, पर……! ईथर, बराण्डी या दूसरे उत्तेजक द्रव्यों से भले ही हम शरीर को कुछ जगा लें। पर जब तक आत्मा अन्दर है, तभी तक यह जगाना सफल होसकता है। आत्मा के निकले पीछे तो वैसे ही दो चार मिनटों का तमाशा है। जीवन वापिस नहीं आ सकता। पैट्रोल के स्थान पर मिट्टी का साधारण तेल कब तक मोटर चलाएगा?

गर्भ के अन्दर एक मांस के लोथड़े में जीवन के चिन्हों का प्रकाश एकाएक अपने आप नहीं होता। चेतनता, सोच और विचार, हृदय की गति, फेफड़े के कार्य्य, आमाशय और पक्वाशय की भोजन पचाने की क्रिया तथा मस्तक की संस्कार-

ग्रहण करने की शक्ति से सर्वथा भिन्न ही है। वह इन सभी को नियम में रखने तथा अपनी इच्छानुसार वर्तने वाली पृथक् ही शक्ति है*। विज्ञान वेत्ता हैरान हैं, कि यह जीवन कहां से और कैसे आया। प्राणि-शास्त्र वालों के अनुसार प्रत्येक गर्भ में मूल-जीवन कोश (primary cell) एक ही आकार वाला होता है। पर झट बढ़ते हुए स्त्री के गर्भ से बालक, गौ के गर्भ से बछड़ा और बकरी के गर्भ से मेमना ही निकलता है। अन्त में आकर उन्हीं लोगों को जो बिना प्रत्यक्ष-प्रमाण (observation and experiment) के बात ही नहीं करते, ऐसे बेतुकी हांकने पर बाधित होना पड़ा है, कि देखकर आश्चर्य होता है। कोई तो यह कहते हैं कि जब कोई ऐसा तारा टूटता है, जहां पर पहिले बस्ती थी, तो उसके प्रभाव से पृथ्वी पर भी जीव आजाता है†। खूब! बड़ी दूरकी सूझी। प्रश्न तो यह फिर वैसे का वैसा ही रहा। वहां पर जीवन इन जड़ पदार्थों के मध्य में कहां से आ गया? इसी प्रकार दूसरी एक और कल्पना की गई है, कि आकाश में सर्वत्र फैले हुए जीवन के कणके हैं, उनके संसर्ग से ही जीवन पैदा होता है† । इन सब

---

* "I perceive, not as a theory, but as a fact, that life is itself a guidinig principle, a Controlling agency"—Lodge. Life and Matter, p. 134.

† Failing in their attempts to explain life on the strength of Evolution, the scientists have resorted to the theories of COSMOZOA and PAN-SPERMIA for the advent of life on earth...

से अच्छा और अनुभव पर आधार पाए हुए वेद का अनेक, नित्य जीवों का सिद्धान्त है, जिसका अभी वर्णन हो रहा था। शरीर का नाश हो जावेगा, पर जीव अपने कर्मानुसार गति को प्राप्त होता है*। हां वेद भी यह कहता है, कि मर्त्य के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करके ही इस अमर्त्य आत्मा का जगत् में व्यवहार दिखाई देता है। शरीर भी मर्त्य उसी प्रकार है जैसे पहिले आप को बता चुके हैं। परिवर्त्तन अथवा रूप का भेद ही होता है, अत्यन्त नाश नहीं होसकता। जीवात्मा में यह भी संभव नहीं, इसी लिए उसको अमर्त्य कहा है।

(२) † अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥ १२॥ ऋ० १। १६४। ३१॥

.........These stellar and inter-stellar Theories hardly help us in forming a correct conception regarding the actual mode of origin of life, but rather drive us to a conveniently inaccessible corner for the investigation of the question." Guha, Jivatman in the Brahma-Sutras P. 67—68.

* "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ कठ० ५। ७॥

"तदेष श्लोको भवति। सक्तः सहकर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्त मस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणः"। बृहदारण्यक० ४। ४। ६॥

† ऋ० १। १६४। ३१॥ ऋषि दीर्घतमाः, देवता विश्वे-देवाः; छन्दः निचृत् त्रिष्टुप्। अथर्व, ९। १०। ११॥ अध्यात्मदेवत्यम्॥

(गोपाम्) इन्द्रियों के स्वामी, जीव को (मैं) (अपश्यम्) देखता हूं कि (अनिपद्यमानम्) वह नष्ट नहीं होता* (पथिभिः) बहुत मार्गों से (आ च परा च) इधर और उधर (चरन्तम्) विचरता है। (सः) वह (सध्रीचीः) साथ रहने वाली शक्तियों तथा (विषूचीः) इधर उधर से आने वाली वासनाओं से (वसानः) ढका हुआ (भुवनेषु) लोक लोकान्तरों के (अन्तः) मध्य में (आवरीवर्ति) आता और जाता है † । इस मन्त्र में भी जीवात्मा को शरीर का स्वामी तथा अविनाशी कहा है। प्रत्येक आत्मा में कुछ स्वाभाविक शक्तियां हैं। इन्हें हम इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, तथा सुख, दुःख के अनुभव के नाम से वर्णन कर सकते हैं। जहां चेतन आत्मा विद्यमान है, वहां यह बातें पाई जा सकती हैं। दूसरे शब्दों में यह चिन्ह हैं जिन से किसी स्थान पर आत्मा का हम अनुमान कर सकते हैं। मनुष्य थक जाता है। सोने को जी करता है। यदि शरीर ही सब कुछ होता, तो उसे विवश होकर पड़ जाना चाहिए। पर नहीं। वह अपनी इच्छा को प्रबल कर के काम पर लगा रहता है। कई वार देखा गया है, कि ऐसा करने से कुछ काल

---

* 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति' ॥
छान्दोग्य० ६ । ११ । २ ॥

† जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण ३ । ३७ । १ ॥ में इस मन्त्र को प्राण पर लगाया गया है। तैत्तिरीयारण्यक का अनुसरण करते हुए सायण इसे सूर्य पर लगाता है। ग्रिफ़िथ और ह्विटने भी सूर्य परक ही मानते हैं। स्वा० दयानन्द इसे ब्रह्म पर लगाते हैं।

के लिए थकावट भी भूल जाती है और निद्रा भी दूर हो जाती है। यह इच्छा आत्मा के अन्दर मौजूद रहती है। इसी तरह दूसरे गुण भी आत्मा के ही ऊपर निर्भर हैं। जैसे अग्नि का उष्ण होना स्वाभाविक है, सदा उस के साथ जुड़ा रहता है। ऐसे ही यह शक्तियां आत्मा के साथ ही वास करती हैं। वेद इन्हें 'सध्रीचीः' अर्थात् सदा साथ रहने वाली का नाम देता है। जब आत्मा एक शरीर को छोड़ता है, तो यह शक्तियां तो उस के साथ होती ही हैं, अब अपने जीवन में जो सब तरह के संस्कार उसने ग्रहण किये हैं, वह सूक्ष्म वासनाएं भी उस के साथ ही जाती हैं। जैसे मनुष्य वस्त्र पहनकर उन के अन्दर छिप जाता है, इसी तरह आत्मा के ऊपर इन वासनाओं का एक प्रकार का आवरण सा आया हुआ होता है। इन के बल से अब न केवल पृथिवी पर, प्रत्युत सारे ब्रह्माण्ड में, लोक लोकान्तरों में उसे आना जाना अर्थात् शरीर धारण करना पड़ता है। इन नैमित्तिक वासनाओं को 'विषूचीः' शब्द से कहा गया है। पहिले मन्त्र में यही भाव 'स्वधा' शब्द से प्रकट किया गया है।

❀ (३) य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुग् इन्नु तस्मात्। स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥१३॥

ऋ० १। १६४। ३२॥

* ऋषि दीर्घतमाः, देवता विश्वेदेवाः, छन्दः त्रिष्टुप् ॥

(यः) जो (पिता) (ईम्) इसे (गर्भ को) (चकार) करता है, (सः) वह (न) नहीं (अस्य) इसे (वेद) जानता, (यः) जो (प्रभु) (ईम्) इसे (ददर्श) देखता है (तस्मात्) उससे (इत् नु) वस्तुतः (हिरुक्) पृथक् है । (सः) वह (मातुः) माता के (योनौ) गर्भाशय के (अन्तः) अन्दर (परिवीतः) घिरा हुआ (बहुप्रजाः) अनेक जन्मों में से होता हुआ अथवा अनेक संस्कारों को साथ लेता हुआ (निर्ऋतिम्) पृथिवी पर (आविवेश) आता है * । यहां पर भी स्पष्ट इस बात का उपदेश पाया जाता है, कि माता पिता मनुष्य के जन्म में निमित्त तो अवश्य होते हैं, पर उन्हें पैदा होने वाले बालक के भविष्य तथा स्वरूप के विषय में बिल्कुल कोई ज्ञान नहीं होता । परमात्मा सब कुछ जानते हैं और वह उत्पत्ति में आने वाली प्रजा से सदा पृथक् हैं । अर्थात् अविद्यादि से युक्त हो कर अथवा साधारण सांसारिक युद्धों के लड़ने के लिए, वह अवतार धारण कर के नहीं आते । जो जीवात्मा अब पैदा होने लगा है, वह कोई नया नहीं, वरन् इस से पूर्व अनेक जन्मों में अनेक भिन्न २ प्रकार की वासनाओं को अपने साथ घसीटते हुए अनादि होता हुआ भी नये शरीर में प्रवेश करता है । इसी प्रकार से वेद में अनेक स्थलों पर इस

---

* स्वामी जी ने अध्यात्म-अर्थ ही किया है । निरुक्तकार ने आधिभौतिक अर्थ, विद्युत् वृष्टि आदि सम्बन्धी किया है । सायण ने दोनों विकल्प माने हैं । हिरुक्=पृथक्, इस के लिए सायण ही पुष्टि करता है । यास्क का टीकाकार, दुर्गाचार्य भी पुनर्जन्म की ओर संकेत करता है । पाश्चात्य अनुवादक बिजली आदि तक ही रहते हैं । आध्यात्मिक अर्थ उन्हें कहीं भी नहीं भाते ।

विषय पर प्रकाश डाला गया है। इन में से कुछ मन्त्र और सुनाता हूं।

* (४) हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्। स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ १४ ॥

अथर्व० १०।२।७॥

(हन्वोः) दाढ़ों के बीच में (हि) निश्चय करके (पुरूचीम्) अनेक गतियों वाली (जिह्वाम्) जिह्वा को (आत्मा) (अदधात्) धारण करता है। (अधा) और (महीम्) बड़ी (वाचम्) वाणी को (अधिशिश्राय) सम्भालता है (सः) वह (आवरीवर्ति) विचरता है। (भुवनेषु, अन्तः) लोकों के अन्दर (अपः) † कर्म को (वसानः) धारण करता हुआ (कः) कौन (उ) निश्चय रूप से (तत्) उस रहस्य को (चिकेत) जानता है?

वस्तुतः आत्मा के स्वरूप का साक्षात्-कार कर लेना अति कठिन है। आत्मा शरीर से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, इस भाव को दूसरे स्थल में यूं कहा है।

---

* ऋषि नारायण, देवता पुरुष, छन्दः त्रिष्टुभ्।

† पुरुष के स्वरूप का वर्णन हो रहा है। 'अपः' शब्द का अर्थ ग्रिफ़िथ तथा ह्विटने ने जल किया है। जहां तक शब्द का संबंध है, जल अर्थ ठीक है। प्रकरणानुसार यह भौतिक जल नहीं हो सकता। हनु तथा जिह्वा के उपपद तथा देवता का विचार बाधक हैं। इस लिए 'आप्नुवन्ति आपः' अर्थात् कर्म-प्रवाह से ही यहां तात्पर्य लिया गया है। कर्म का प्रभाव भी बहते हुए जल के समान आगे ही आगे होता है। स्वर के विचार से उपर्य्युक्त बात कहनी पड़ी है।

* (५) एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा। इष्टापूर्त्तमनुसंक्राम विद्वान्, यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥ १५ ॥ अथर्व० १८।२।५७॥

(एतत्) यह (त्वा) तुझे (वासः) चोला (प्रथमं) पहिले (नु) निश्चय करके (आगन) प्राप्त हुआ था। (यत्) जिसे (इह) यहां (पुरा) पूर्व (अबिभः) धारण किया है। (एतत्) इसे (अप) परे (ऊह) फैंक दे। अपने (इष्टापूर्त्तम्) धार्मिक कर्म को (विद्वान्) जानता हुआ (अनुसंक्राम) उस के अनुसार गति को प्राप्त हो। (यत्र) जिस (अवस्था) में (बहुधा) अनेक वार (विबन्धुषु) अनाथों को (दत्तम्) दिया हुआ (ते) तेरे (काम आवेगा)। इसी के भाव को पीछे शास्त्रकारों ने विस्तार करके प्रकट किया है † ॥

(६) ‡ सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १६ ॥ (अथर्व १८।३।५८।)

---

* ऋषि अथर्वा, देवता मृतकः, छन्दः स्वराज् त्रिष्टुप्। सायण विबन्धु के दो टुकड़े करके 'वि' को 'दत्तं' के साथ लगाता है। यह उस की अत्यन्त असावधानी का एक उदाहरण है।

† वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
गीता २।२२॥

‡ ऋषि अथर्वा, देवता यम, छन्दः विराज्।

हे इस देह को छोड़ने वाले जीव, (पितृभिः) पितरों से (संगच्छस्व) संयुक्त हो जा। (यमेन) यम के साथ मिल जा। (इष्टापूर्त्तेन) अपने धार्मिक-कर्म से युक्त हो जा। (अवद्यम्) पाप को (हित्वाय) छोड़ कर (पुनः) फिर (अस्तम्) अपने निवास-स्थान को (एहि) आ। (सुवर्चाः) तेज से युक्त होकर (तन्वा) नये शरीर को (संगच्छताम्) प्राप्त हो।

इस मन्त्र में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि एक ही शरीर के साथ हमारा जीवन समाप्त नहीं हो जाता, वरन अपने कर्म के अनुसार नाना जन्मों में से होते हुए, शनैः २ हम सब पापों से छूटते २ उन्नति को प्राप्त हो सकते हैं।

*** (७) अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान्। आयुर्वसान उप यातु शेषः सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ १७ ॥** अथर्व १८। २। १०॥

(अग्ने) हे अग्ने ! (यः) जो (ते) तेरी (आहुतः) आहुति किया गया है, उसे (अवसृज) छोड़ दे। (पितृभ्यः) पितरों के

---

* ऋषि अथर्वा; देवता यम, छन्दः निचृत् त्रिष्टुप।

तीसरे पाद के अर्थ पर भाष्यकारों का मतभेद है। 'शेषः'=सन्तान, सायण मृतक का प्रकरण छोड़ देता है और सन्तान शोकातुर न हो, यह अर्थ करता है। ह्विटने तथा ग्रिफ़िथ शब्द को द्वितीया में समझते हैं। उन के अनुसार यह 'शेषस्' शब्द है। पर मृतक सन्तान के समीप आता हुआ भी यदि माना जावे, तब भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा। चतुर्थपाद भूत, प्रेत आदि के भाव का खण्डन करता हुआ प्रकाशयुक्त होते हुए, शरीर धारण करने का उपदेश करता है। परन्तु इन भाष्यकारों के अपने अर्थ का यह फैलाव कभी भी पसन्द नहीं आवेगा। बुद्धिमान् पाठक स्वयं विचार करें॥

लिए (स्वधावान) अपने कर्म से युक्त होकर वह (विचरता) है। (आयुः) आयु को (वसानः) धारण करता हुआ (शेषः) न नाश होने वाला, जीव (सुवर्चाः) तेज से युक्त होकर (तन्वा) शरीर को (संगच्छताम्) धारण करे।

इस मन्त्र में बतलाया है कि अग्नि केवल शरीर को ही जलाती है। कुछ शेष भी रह जाता है और वह दूसरे शरीरों को धारण करता है।

*** (९) सूर्य्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ १८॥** ऋ० १०। १६। ३॥

हे विदा होने वाले प्राणी ! (सूर्य्यं) लोक को (चक्षुः) देखने का साधन, आंख (गच्छतु) चली जावे। (वातम्) वायु में (आत्मा) (च) और (द्यां) द्युलोक में (च) और (पृथिवीं) पृथवी में (धर्मणा) अपने किए धर्म के अनुसार। (अपः) जलों में (वा) या (गच्छ) जा (यदि) (तत्र) वहां (ते) तेरा (हितम्) कल्याण होता हो, या (ओषधीषु) ओषधियों में (प्रतितिष्ठ) स्थित हो (शरीरैः) शरीरों को धारण करता हुआ† ॥

---

* ऋषि दमनो यामायनः, देवता अग्निः, छन्दः भूरिक् त्रिष्टुप्।

† इस मन्त्रसे यह भी स्पष्ट होरहा है कि ओषधियोंमें भी वेद के अनुसार जीव होता है। दो प्रकार से ओषधियों में जीव रह सकता है (१) उनका जीवन-स्रोत होकर (२) उनके अन्दर शरीर धारण कर जैसे कीड़े, मकोड़े आदि। आर्य शास्त्रों में (१) को ही सिद्धान्त–रूप से माना जाता रहा है:—

"यत् किञ्चेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम्।" ऐतरेयोपनिषद् ५। ३॥

सूर्य्य तेज का पुञ्ज है। सूर्य्य न हो तो आंख होते हुए भी हम कुछ देख न पावें। परन्तु जब आत्मा से देह शून्य हो जाए, तो मानो आंख का तेज भी अपने मूल-स्रोत में चला जाता है। यह एक इशारा है। मृत्यु के पश्चात् शरीर के सब परमाणु इधर उधर अपनी कारण दशा में बदल जाते हैं। जहां उन का आरंभिक सम्बन्ध है, वहीं चले जाते हैं। दूसरी बात यह कही है कि जन्म जन्मान्तरों में जाते हुए हमारा हित ही हमारे सामने होता है।

अर्थात् परमात्मा हमारे कल्याण के लिए इस उपाय को वर्तते हैं। फिर यह कि यह आना जाना किसी एक योनि या लोक की मर्यादा में बन्द नहीं। तेज वाले, वायु में विचरने वाले, जलचर तथा भू-चर, अनेक प्रकार के जन्म हैं। अपने २ कर्मानुसार इन्हीं में हमें जाना होता है। क्यों, मायाराम, सो तो नहीं गए? विषय सूक्ष्म है।

मा०—नहीं, महाराज! मैं तो आप के इस अमृत-प्रवाह में खूब आनन्द ले रहा हूं। अब तक तो मैं 'अविद्या' के गढ़े में ही घुसा पड़ा था।

महा०—तो अभी से ऐसे मत कहो। वेद का आदर्श बहुत ऊंचा है। इसे सम्पूर्णतया सुनकर उस पर जब आचरण भी

सुखदुःखयोश्च ग्रहणात् छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥

महाभारत, शान्तिपर्व १८४। १७॥

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म्म हेतुना।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥ मनुः १। ४९॥

कर लोगे, तब ही तुम्हें विद्या और अविद्या के अन्तर का ठीक २ पता चलेगा। आहा, वहां पर पहुंच कर विद्या अविद्या हो जाती है और अविद्या विद्या होजाती है * ॥

सत्य०—महाराज ! यह आप किधर चल पड़े हैं ? ऐसे तो वेदान्ती ही कहा करते हैं। क्या यह बातें सच्ची हैं ?

महा०—प्यारे बेटा, तुम अभी ऊपर २ हो। प्रभु ने तुम्हें सद्बुद्धि दी है। तर्क भी तुम्हारा सहायक है। इस से तुम्हें यह लाभ है कि तुम पाखण्डियों की लीला को शीघ्र समझ जाते हो। पर पाखण्ड में न फंसना और सत्य मन्दिर में प्रवेश करना दोनों एक ही बात नहीं हैं†। इसके लिए दिन रात ऋषियों के चरणों में बैठ कर स्वाध्याय करना होगा। फिर सच्ची श्रद्धा का उदय होगा और सत्य को तुम धारण कर सकोगे।

सत्यकाम की आंखों में पानी आ गया। वह गद्गद् वाणी से बोला, 'महाराज ! क्या मेरी वह अवस्था कभी होगी ?'

महा०—अवश्यमेव। तुम नित्य अविनाशी, अपनी प्रारब्ध के स्वयं बनाने वाले हो। यही तो अब तक सुनाता रहा हूं। देख २ कर पग धरते चलो। जितना अब कर लोगे वह उस से

---

* यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥ केन० २।३ ॥
देखो, छान्दोग्य० ६।४।५॥ बृहदारण्यक० ३।७।२३॥ तथा ३।८।११॥ तथा अन्य अनेक प्रमाण इस विषय में विद्यमान हैं।

† प्यारे पाठक ! यदि तुम आर्य समाजी हो, तो इस वाक्य को और भी ध्यान से पढ़ना। लीला का खण्डन तुम कर सकते हो। क्या सत्य धर्म की प्रतिष्ठा भी हृदय-मन्दिर में कभी करोगे ? थोड़ा बोल, कर बहुत।

मिल कर पूर्ण हो जावेगा, जो दूसरे जीवन में जा कर करोगे* ।

सत्य०—महाराज ! आप के वचनों में अमृत भरा है । इसी विषय पर और प्रकाश डालिए। मैं अधिक टोक कर रस को भंग नहीं करना चाहता ।

महा०—प्यारो ! देखो वेद में कैसा सुन्दर आत्म-ज्ञान का भण्डार है ! मनुष्य का स्वरूप क्या है, इस विषय में कुछ सुना कर आज के कथन को समाप्त करूंगा ।

(९) † अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ १९ ॥

ऋग्० १ । १६४ । ३८ ॥

(अमर्त्यः) नित्य (मर्त्येन) अनित्य के साथ (सयोनिः)

---

* नेहाभिक्रमनाशोस्ति प्रत्ययवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ गीता० २ । ४० ॥
प्रयत्नाद्यत्मानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ गीता ६ । ४५ ॥

† ऋषि दीर्घतमाः, देवता विश्वेदेवाः, छन्दः पंक्तिः ।

सायण के मन में से यदि मायावाद निकल सकता, तो उसके अर्थ से भी यही भाव ही निकलता । शब्दार्थ में प्रायः कोई भेद नहीं । स्वधा=भोग अर्थात् किए कर्म का फल । यह हमारे अर्थ के साथ ही आ जाता है । स्वामी दयानन्द इसे जड़ चेतन-भेद पर लगाते हैं । ह्विटने केवल समालोचना करता है । रोथ जीव और देह ही समझता है । ग्रिफिथ एक सूर्य को ही दो बना देता है । आर्य ही इन इशारों को ठीक पा सकते हैं ।

उत्पन्न होता हुआ (स्वधया) अपनी कमाई से (गृभीतः) जुड़ा हुआ (अपाङ्) नीच गति वाला (प्राङ्) अच्छी गति वाला (एति) विचरता है । (ता) वह दोनों (शश्वन्ता) सदा से चले आने वाले (विषूचीना) सब स्थानों में पाए जाने वाले (वियन्ता) भिन्न २ हैं (अन्यम्) एक को (निचिक्युः) लोग पा लेते हैं (न) नहीं (अन्यम्) दूसरे को (निचिक्युः) पाते हैं ॥

इस मंत्र में वेद ने जीव और शरीर के भेद को खोलते हुए, पूर्व कहे हुए प्रकार के अनुसार ही पुनर्जन्म का उपदेश किया है। शरीर दिखाई देता है, आत्मा दिखाई नहीं देता । शरीर भी कारण रूप से नित्य ही है । आत्मा की गतियों की कोई गिनती नहीं । प्रकृति–माया के रूपों की भी कोई गिनती नहीं । यह भाव 'विषूचीना' शब्द से लिया गया है ॥ १९ ॥

* (१०) बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २० ॥

अथर्व० १० । ८ । २५ ॥

(एकम्) एक (बालात्) बाल से (अणीयस्कम्) अधिक सूक्ष्म है (उत) और (एकम्) एक (न इव) मानो नहीं (दृश्यते) दिखाई देता । (ततः) उन से (परिष्वजीयसी) अधिक घेरने

---

* कुत्स ऋषिः, अध्यात्मदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः । ग्रिफिथ चन्द्र और सूर्य्य का अर्थ करके सारे आध्यात्मिक भाव को बिगाड़ देता है । ह्विटने ठीक समझने में असमर्थ है । उपनिषद् के साथ मिलाने से इस सूक्ष्म विषय का तत्त्व मिल सकता है । आर्यों के तो नित्य कानों में ही ऐसी बातें पड़ती रहती हैं । पर दूसरों के लिए यह न खुलने वाले संकेत हैं ।

वाली (एक और) (देवता) है (सा) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारी है।

जो कुछ वैदिक संसार तथा जीवन के विषय में अब तक तुम सुन चुके हो, उस सब का यह संग्रह है। संसार तीन अनादि तत्त्वों का संघटन है। उन का इस में वर्णन किया गया है। पिछले मन्त्र में स्थूल शरीर का विचार करते हुए उसे दृष्टि-गोचर कहा गया था। इस में उस के सूक्ष्म कारण का वर्णन किया है। परन्तु उसे न दिखाई देने वाला नहीं कहा। यह वह अव्यक्त अवस्था है, जिस का उपनिषदादि शास्त्रों में विस्तार किया गया है *। वह हृदय भी प्रकृति का ही विकार है, जिस में जीव तथा प्रभु का शरीर में मुख्य निवास-स्थान है। वह भी अत्यन्त सूक्ष्म है †। जीवात्मा इन स्थूल भौतिक साधनों से दिखाई नहीं देता। पर वह एक पहेली सी ही है। देखनेवाला तो सदा वह स्वयं है। अतः कभी भी मत समझो कि वह तुम्हारी किसी भी क्रिया में अनुपस्थित है। हां, वह अपने ऊपर स्वयं

---

* स्थूल से सूक्ष्म का वर्णन करते २ प्रकृति की अन्तिम और अतएव प्रथम अवस्था को अव्यक्त=बहुत ही बारीक, अतः अस्पष्ट कहा है, देखो, कठ० ३। ११ ॥ ६, ७ ॥ श्वेताश्वतर० १। ८ ॥ इसी प्रकार गीता ८। १८, २० ॥ १३। ५ ॥

† इस के विषय में पूर्व वर्णन होचुका है। इस स्थान को हृदय, हृत्पुण्डरीक, हृत्पुष्कर आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। देखो छान्दोग्य० ८। ३। ३ ॥ बृहदारण्यक० ४। ३। ७ ॥ श्वेताश्वतर० ३। १३ ॥ ब्रह्म० २ ॥ छान्दोग्य० ३। १४। ३ इत्यादि।

देखने आदि की क्रिया का व्यापार नहीं कर सकता। एक 'इव' शब्द लगाकर वेद ने वास्तव में कमाल कर दिखाया है। अब इन दोनों तत्त्वों को घेर कर और उन से भी आगे अनन्त-रूप व्यापक सत्ता परमात्मा की है। उस से प्यार करना ही मानुष-जन्म का मुख्य कर्त्तव्य है। सब समझकर, सब जान कर, उसी लक्ष्य को पहुंचना ही हमारे लिए परम पुरुषार्थ है।

* (११) इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥ २१॥

अ० १०। ८। २६॥

(मर्त्यस्य) मर्त्य के (गृहे) घर अर्थात् शरीर में (इयम्) यह (कल्याणी) कल्याण करने वाली (अजरा) सदा एक जैसी रहने वाली और (अमृता) अविनाशी (देवता) है। (यस्मै) जिस (जीव) के लिए (कृता) इसका प्रकाश किया जारहा है, (सः) वह (शये) भी निश्चल है (यः) जो (शरीर) (चकार) अपनी सूक्ष्म रचनादि से उस देवता का (निवास) बन रहा है, (सः) वही (जजार) बूढ़ा होता है †॥

---

* कुत्स ऋषि, अध्यात्मदैवतम्, छन्दः अनुष्टुम्-भेद।

† ह्विटने शब्दों के अर्थ तो प्रायः यही करता है। पिछले मन्त्र में बाल=बालक, अर्थ करके तो मानो वह वेद के साथ उपहास ही करता है। ग्रिफ़िथ अब देवता से उषा समझ रहा है। यह साधारण बात है कि यह देवता वही है जो पिछले मन्त्र में है। पर इन वैज्ञानिक भाष्यकारों की बला से, अर्थ बने या न बने, विरोध हो या समन्वय हो, इन्हें तो वेद का व्याख्याता ही बनना है!!

प्रभु प्रत्येक हृदय में आत्मा के अन्तरात्मा बन कर निवास करते हैं। वह अखण्ड, अभय, नित्य शुद्ध हैं। उन का वहां होना जीव के कल्याण के लिए ही है। वह भी किसी प्रकार से भी बदलने वाला नहीं। आयु आदि का प्रभाव तो केवल शरीर पर ही पड़ता है। आत्मा वैसे का वैसा ही रहता है। जीव के स्वरूप को आगे फिर स्पष्ट किया है।

* (१२) त्वं स्त्री उत वा पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ २२ ॥

अ० १० । ८ । २७ ॥

हे जीवात्मन् (त्वं) तू (स्त्री) (उत) और (पुमान्) पुरुष (वा) भी (असि) है। (त्वं) तू (कुमार) (उत) और (कुमारी) (वा) भी (है) त्वं तुम ही (जीर्णः) बूढ़े होकर (दण्डेन) लाठी से (वञ्चसि) चलते हो। (त्वं) तुम (जातः) जन्मते हुए (विश्वतोमुखः) अलग २ आकारों वाले (भवसि) हो जाते हो ॥

वस्तुतः जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न कुमार है और

---

* कुत्स ऋषि, अध्यात्म-दैवतम्, छन्दः भूरिग् बृहती।

श्वेताश्वतर० में यही मन्त्र आत्मा के वर्णन में आया है। पर ग्रिफ़िथ साहिब की बीमारी असाध्य होगई है। उसे सर्वत्र चन्द्र ही का ध्यान रहता है। अनुक्रमणी कुछ कहे, ऋषि कुछ कहें, उसे तो चन्द्र की नौकरी ही बजा लानी है। इसे ही पक्षपात की ऐनिक को न उतारना कहते हैं। कहीं वेद से आत्मा का यथार्थ स्वरूप न निकल पडे।

न कुमारी। यह सब बाहिर के भेद शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए कहा है कि आत्मा एक-रूप होते हुए भी शरीर की भिन्न २ अवस्थाओं का भोग करता है। अन्त में कितनी सुन्दरता से बताया है, कि जीव के प्रवेश का ही यह परिणाम होता है कि गर्भ में पैदा होने वाले शरीर में भिन्न २ प्रकार का आकार उन्नत होजाता है। पूर्व कहा जा चुका है कि जब तक जीव को अलग २ जीवन-स्रोत न माना जावे, तब तक केवल परमाणुओं, विद्युत् आदि तत्वों और उन के गति आदि गुणों के आधार पर चेतन जगत् के स्वरूपकी व्याख्या नहीं होसकती।

क्या यह वेद की कम महिमा है कि इन सूक्ष्म तत्त्वों का इतना सरल पर गहरा वर्णन किया है।

यह स्मरण रखो कि यह वह विषय है, जिसके सामने आज भी योग्य विज्ञान-शास्त्रियों के मस्तिष्क चक्र खाते हैं। यह वेद में विज्ञान कैसे भरा गया, यह प्रश्न है जो कट्टरसे कट्टर, नास्तिकता की ओर झुके हुए विकासवादियों का मुंह भी प्रभु के चरणों की की ओर मोड़ सकता है, यदि वह पक्षपात और ठीक समझे हुए अपने मन-माने विचारों को कुछ चिर एक ओर रखकर, नए सिरे से सोचने का यत्न करें। अब हो या कब हो, पर जब भी विद्वानों की वृत्ति इधर झुकेगी, उन्हें निश्चय होजावेगा कि योग-समाधि के अनुभवों के आगे जैसे सृष्टि नंगी हो कर अपने सब भेद खोलकर सामने रख देती है, वैसे हमारी बड़ी से बड़ी दूर-वीक्षणी (Telescope) या अणु-वीक्षणी (Microscope) के शीशों के आगे नहीं हो सकता। यह

ठीक है कि योग के नाम पर पाखण्ड भी बहुत होता है और योरूप (हरिवर्ष) तथा अमेरिका (पाताल-देश) तो इन नित्य बढ़ते हुए नकली योगियों के हथकण्डों के कारण भूतों और चुड़ेलों से भरते चले जारहे हैं, तो भी असल (जिस की यह सब नकल है) विद्या के महत्त्व से इनकार करना बड़ी भारी भूल ही है।

मा०—महाराज ! सुनते हैं, अब योगी कोई नहीं रहा। आगे वनों में कन्दमूल आसानी से मिल जाता था, इस से योगी जन बड़े सुख से एकान्त में आत्मा के आनन्द में मग्न रहा करते थे। पर अब तो वह बात नहीं रही।

सत्य०—तो क्या अब अनुभवी, आत्मा के साक्षात् करने वालों का नाश होगया है ? और क्या यह इसी लिए है कि आबादी बढ़ती चली गई है और जंगल थोड़े होते गए हैं ? यदि यह ठीक होता तो अफ्रीका और दक्षिण-अमेरिका के दुर्गम वनों में तो चप्पे २ पर योगियों के अखाड़े होते। मैं तो इन दोनों बातों को ही नहीं मानता। महाराज, आप ही कुछ बतलाइए।

महा०—प्यारो, यह बात ठीक है कि अब योगी कम मिलते हैं। पर बीज नाश नहीं हुआ। यह अनुभव की बात स्वाध्याय तथा सत्संग से पैदा होती है। जब अन्दर लग्न लगती है, तो प्रकृति देवी के सुन्दर वन अवश्य सहायक होते हैं, पर वन के बिना भी योग हो सकता है। महाराज अश्वपति * और महा-

* महाराज अश्वपति कैकेय-राजा बड़े ब्रह्मज्ञानी थे। उनके शासन का

राज जनक अपने समय के प्रसिद्ध तत्त्व-ज्ञानी थे और दोनों ही राज्य के अनेक भारों को अपने ऊपर लिए हुए थे *। भगवान कृष्णचन्द्र, जिन के अनुभव-सिद्ध विचारों को विचार २ करोड़ों लोगों ने इस भव-सागर को तरा होगा, संसार में विचरने वाले, राज्यादि तथा युद्ध के विषम मर्मों को समझ कर, उन में लगे रहने वाले थे। तुम साधन को साध्य समझ रहे हो। गौण को मुख्य समझ रहे हो। वस्तुतः बात यह है कि महाभारत के युद्ध के पीछे साक्षात् वेद-विद्या का प्रचार कम होकर सम्प्रदायों का ही प्रचार होता रहा है। बाहिर के कर्म-काण्ड का चक्र इतना चला है, कि अन्दर भूल ही गया है। जिस के लिए सब कुछ है, वह दृष्टि से ही ओझल होता गया है। वेद और ऋषियों के अनुभव-रूप उपनिषदादि शास्त्रों में रुचि पैदा करो। अपने आप बिगड़ी हुई दशा सुधरने लगेगी। यदि चाहो, तो आज यहीं तक रहने दूं। प्रतीत होता है, तुम थक गए हो।

मा०—और सत्य०—नहीं महाराज नहीं। अब तो आनन्द आने लगा है। कुछ मन्त्र और भी सुनाइए।

महा०—बहुत अच्छा।

इतना प्रताप था कि कि उनके राज्य में पाप बहुत कम होता था। सब नर नारी विद्या-रसिक, धर्म-कर्म, में लगे हुए थे। वृत्तान्त के लिए देखो, छान्दोग्य० ५। १० और आगे।

* एतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्ति। कौषीतकि ४।१॥ इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में कई स्थानों पर और गीता, ३। २० ॥ में जनक का यश गाया गया है॥

(१३)* अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥ २३ ॥

अथर्व० १९ । ६८ । १ ॥

† (अव्यसः) न फैले हुए (च) और (व्यचसः) फैले हुए, दोनों प्रकार के पदार्थों के (बिलं) रहस्य को (मायया) आश्चर्य-रूप ज्ञान से (विष्यामि) खोलता हूं। (ताभ्याम्) उन से (वेदम्) अनुभव को (उद्धृत्य) प्राप्त करके (कर्माणि) कर्मों को (कृणमहे) हम करते हैं।

तीनों तत्त्वों को दो विभागों में विभक्त किया गया है। प्रकृति और परमात्मा फैले हुए हैं। जीवात्मा अणु है। यह पूर्व कहा जा चुका है। इस मन्त्र में भी यही उपदेश करते हुए वेद चाहता है कि मनुष्य इन का ज्ञान प्राप्त करें और फिर उचित कर्म में प्रवृत्त हों ‡। अज्ञान से किया हुआ कर्म बन्धन का हेतु होता है। दूसरे इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि माता पिता तथा आचार्य्य युवकों के आत्मा के विकास को प्रथम मुख्य रखा करें। जितना उनका ज्ञान बढ़ सकता है, उतना

---

* ऋषि ब्रह्मा, देवता कर्म, छन्दः अनुष्टुप्।

† ग्रिफिथ का यहां भी अच्छा हाल नहीं। वेद=दर्भ के तिनके। यहां इस अर्थ की कोई संगति नहीं। 'अव्यसः'=जिसका व्यास=फैलाव न हो। यह आवश्यक नहीं कि सायण या अन्य भाष्यकारों के अनुसार चकार का लोप ही माना जावे।

‡ 'नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति'। छान्दोग्य० १। १। १० ॥

उन्हें उत्साह देते हुए बढ़ाने में सहायता करनी चाहिए । जब उन की नींव पक्की होगी, तो उन के जीवन का मकान बहुत ऊंचा और विशाल बन सकेगा । पर इस बात को कभी भी भुलाना न चाहिए कि वेद शिक्षा के संबन्ध में जो आदर्श सामने रख रहा है, उस में जहां संसार के पदार्थों और व्यवहार का ज्ञान शामिल है, वहां वह अधूरा रह जावेगा, यदि आत्म-संबंधी रुचि पैदा न की जावेगी । इस बात में प्राचीन वैदिक तथा आज कल के शिक्षा-संबंधी विचारों में स्पष्ट अन्तर दिखाई दे रहा है । मैं जान बूझ कर आत्मा का शब्द बोल रहा हूं । कुछ लोगों के माने हुए या बताए हुए सिद्धान्तों (dogmas) का पढ़ाना और बात है और इस पवित्र वेदोपदेश के अनुसार आत्मिक-ज्ञान का उद्धार करना और बात है । पहिला कार्य एक दो पुस्तकों के पढ़ पढ़ा लेने से सिद्ध हो जाता है, पर यह आवश्यक नहीं कि युवकों के जीवन में बहुत अन्तर पड़े * । दूसरा कार्य्य केवल उसी प्रकार के अभ्यास से पूर्ण, तप और त्याग के भूषणों से भूषित, स्वाध्याय और गुरु के सत्संग के प्रभाव से नित्य पवित्रता के रंग में रंगे हुए जीवन से ही फलीभूत हो सकता है । इस के सिद्ध हो जाने से मनुष्य में उन्हीं सिद्धान्तों के समझने

---

* भिन्न २ सम्प्रदायों की संस्थाओं में यही कुछ होता है । इस धार्मिक शिक्षा या नाममात्र के 'वेद-पाठ' से अपनी पुस्तकों तथा पूर्वजों के नामों से परिचय तो अवश्य होता है, पर यह सब कुछ मस्तक से ही संबंध रखता है । हृदय कोरा कठोर, अशिक्षित वैसे का वैसा ही रहता है । इस लिए जगत् में धार्मिक जीवन का शान्ति रूप आवश्यक फल नहीं बढ़ता ।

तथा समालोचना करने की जहां पूरी शक्ति पैदा होती है, वहां इस से भी बढ़ कर उस के अन्दर विशेष तेज और प्रतिभा की चमक भी दिखाई देती है *। वस्तुतः यह हेतु है, जिस से कि प्राचीन काल में सूक्ष्म अनुभव करने का विद्वानों में स्वभाव सा हो जाता था। इस सूक्ष्मता और इस साधन के विषय में स्वयं वेद उपदेश करता है।

† (१४) न वि जानामि यदिवेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥ २४॥ ऋग् १। १६४। ३७

(न) नहीं (विजानामि) ठीक तरह से मैं जानता (यदिव) जिस तरह का कि (इदम्) यह (अस्मि) मैं हूं। (निण्याः) छिपा हुआ २ (सन्नद्धः) बांधा हुआ (मनसा) मन द्वारा (चरामि) विचरता हूं। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य का (प्रथमजाः) पहिला फल (मा) मुझे (आगन्) प्राप्त होता है (आत् इत्) तब ही (अस्याः) इस (वाचः) वाणी का (भागम्) भजनीय अंश (अश्नुवे) मैं पाता हूं ‡॥

---

* अच्छी तरह से स्मरण रक्खो, यह सिद्धि मुख्य रूप से गुरु-शिष्य संबन्ध पर निर्भर है, न कि जंगल के एकान्त, नदियों के दृश्य, पीताम्बर तथा खड़ाऊं आदि बाह्य चिन्हों पर। इन सब का अपने स्थान पर उपयोग है, पर प्रायः यह मूल—वस्तु का स्थान लेकर उद्देश को ओझल कर देती हैं।

† दीर्घतमा ऋषि, विश्वेदेवा देवता, निचृत् त्रिष्टुप्।

‡ सायण 'यदिव' की व्याख्या यूं ही इतनी लम्बी करता है। वेद से उस का वेदान्त नहीं निकल सकता। निरुक्त परिदेवन में तो इस वाक्य को लगाता

सचमुच मैं क्या हूं, यह पता नहीं चलता । साधारणतया परमात्मा ने मनुष्य को सब कार्यों की सिद्धि के लिए मन-रूपी बड़ा चतुर नौकर दे रक्खा है। यह झट इधर उधर फिर फिरा कर सब काम कर देता है। सीधा किसी से संबंध न होने के कारण मनुष्य स्वयं आत्मरूप में बंद सन्दूक की तरह अपना आप छिपाए हुए पड़ा रहता है। यह भेद कब प्रकट होता है ? जब सब धार्मिक सच्चाईयों के वेदरूपी प्रथम प्रकाश को मनुष्य पा लेता है। तभी तो उसे यह अवसर मिलता है कि अपनी वाणी को मन्त्रों के उच्चारण से पवित्र करे । इस से पूर्व तो वाणी का ठीक प्रयोग ही पता नहीं था॥

* (१५) परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ २५ ॥

यजु० ३२ । ११ ॥

है। पर इसका इतनाही अर्थ है कि हमें अपना ठीक स्वरूप पता न होने से दुःख है। 'वाचः' का अर्थ उपनिषद् करके तो सायण ने ऐतिहासिक अनभिज्ञता को ही प्रकट किया है। उपनिषद् पहिले या वेद ? स्वा० दयानन्द इसे और प्रकार से लेते हैं। पश्चिमी सायण का अनुकरण करते हैं।

* ऋषि स्वयम्भु ब्रह्म, देवता परमात्मा, छन्दः स्वराड् जगती।

उवट और महीधर 'ऋतस्य' का योग 'आत्मना' से करते हैं। परन्तु देखो आगे मन्त्र २६, 'ऋतस्य' का 'प्रथमजां' के साथ ही सम्बन्ध ठीक है।

यहां कुछ लोग इस बात पर आग्रह करेंगे कि 'परीत्य' का अर्थ घेर कर करना ठीक है। उस अवस्था में प्रकरण अगले मन्त्र के साथ परमात्मा का हो जावेगा। देखो, ऊपर उ० १ म में मंत्र ३, की व्याख्या। उस अवस्था में यह

(भूतानि) भिन्न २ प्राणियों में (परीत्य) घूमकर (लोकान्) भिन्न २ लोकों में (परीत्य) घूमकर (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं (च) और (प्रदिशाः) कोनों में (परीत्य) घूमकर (ऋतस्य) ऋत के (प्रथमजाम्) प्रथम फल का (उपस्थाय) आश्रय करके (आत्मना) अपने द्वारा (आत्मानम्) परमात्मा में (अभिसंविवेश) स्थित हो जाता है ॥

जब तक आध्यात्मिक अनुभव को वेदादि द्वारा प्राप्त नहीं करता, मनुष्य जन्म जन्मान्तर के चक्र में घूमता रहता है। जब तत्त्व-ज्ञान को पा लेता है, तो अपने चारों ओर प्रभु के दर्शन करता हुआ उस के आनन्द से आनन्दित हो जाता है * ॥

(२६) † परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३ षो अग्निः ॥२६॥
अथर्व २।१।४॥

अर्थ होगा—"प्रभु सर्वत्र व्यापक होकर अनादि सत्य के प्रथम प्रकाश" =सत्य ज्ञान को धारण करके (आत्मना) अपने स्वरूप द्वारा (आत्मानम्) जीवात्मा में समा जाता है"। परमात्मा ही हमारे अन्दर, अन्तर्यामी होकर हमें ज्ञान प्रदान करते हैं। क्या इस प्रकार से अर्थ करने से जीव तथा परमात्मा का भेद स्पष्ट नहीं होरहा। संवेश सदा एक का दूसरे में ही होता है। इस अर्थ को प्रमाणित करने से अगले मन्त्र में जीव, ब्रह्म के अभेद को सिद्ध करने का यत्न करना और भी निष्फल हो जावेगा। पाठक दोनों स्थलों को मिला कर पुनः पढ़ें।

* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुण्डक २।२।८॥

† ऋषिः वेनः, ब्रह्मात्म दैवतम्, छन्दः त्रिष्टुप्।

(द्यावापृथिवी) भूमि और आकश में (सद्यः) एक साथ (परि-आयम्) मैं चक्र लगा आया हूं । (ऋतस्य) ऋत के (प्रथमजाम्) प्रथम स्रोत की (उपातिष्ठे) शरण पड़ता हूं । (और अब मैं अनुभव करता हूं) कि (ननु) वस्तुतः (एषः) यह प्रत्यक्ष (अग्निः) प्रकाश-स्वरूप परमात्मा (धास्युः) धारण करने वाला (भुवनेष्ठाः) सब भुवनों में समाया हुआ है (इव) जैसे (वक्तरि) वक्ता में (वाचम्) उस की वाणी होती है ॥

अब और इसे खोलने की आवश्यकता नहीं। सारे भाव स्पष्ट हैं। इस के आगे यह मन्त्र है।

* (१७) परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् । यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैर-यन्त ॥ २७ ॥

अथर्व २ । १ । ५ ॥

(विश्वा) सब (भुवनानि) भुवनों (जन्म जन्मान्तरों द्वारा) में (परि-आयम्) मैं फिर आया हूं, (ऋतस्य) सत्य के (तन्तुम्) सूत्र को जो कि (विततम्) विस्तृत है (दृशे कम्) निश्चय से देखने के लिए (यत्र) जिस (समाने) एक (योनौ) मूल-स्थान में (देवः) विद्वान् (अमृतम्) अमृतपद को (आनशानाः) प्राप्त करते हुए (अध्यैरयन्त) पहुंचा करते हैं † ॥

---

* वेन ऋषिः, आत्म-दैवतम्, छन्दः त्रिष्टुप् ।

† अर्थात्, अनेक जन्मों के पश्चात् ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। उस परम तत्त्व का; जिस में सब संसार स्थित है, पाना अति कठिन है। पर जब पा लेता है, तो अपनी भूल पर मनुष्य आश्चर्य भी करता है, क्योंकि वह तो

* (१८) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ २८ ॥

यजु० ३१। १८॥

इस प्रकार अनेक जन्मों के पश्चात् अनुभवी जीवात्मा अपने अनुभव को प्रकट करता है, (अहं) मैं (एतम्) इस (पुरुषम्) व्यापक प्रभु को जो (महान्तम्) बड़ा (आदित्य वर्णं) अखण्ड प्रकाश से युक्त तथा (तमसः) अन्धकार से (परस्तात्) परे है (वेद) जान चुका हूं (तम्) उसे (एव) ही (विदित्वा) जान कर (मृत्युम्) मौत से (अति एति) पार होता है (अयनाय) परम पद की प्राप्ति के लिए (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (न) नहीं है †॥

वेद दो प्रकार से सफल हो सकता है, पढ़ने से और अनुभव प्राप्त करने से। जो केवल पढ़ते हैं, आगे कुछ नहीं करते, वह वास्तविक फल से रहित रहते हैं।

‡ (१९) ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा

सदा हमारे सामने ही रहता है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥ ७। १९ ॥

* नारायण ऋषिः, ईश्वरो देवता, छन्दः निचृत्त्रिष्टुप्।

† छान्दोग्य० ७। २६। २ ॥ बृहदारण्यक० १। ३। १३-१६ ॥ श्वेताश्वतर० २। १२ ॥ ४। १५ ॥ ३। ८॥ मैत्री० ७। ११ ॥ कैवल्य० ९॥ कठ० ३। १५॥

‡ दीर्घतमा ऋषिः, विश्वेदेवा देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २९ ॥

ऋ० १ । १६४ । ३९ ॥

(ऋचः) सब वेद (अक्षरे) अविनाशी (परमे) परम (व्योमन्) व्यापक परमेश्वर ही में (लगते हैं) (यस्मिन्) जिस में (विश्वे) सब (देवाः) शक्तियां (अधि-निषेदुः) आश्रित रहती हैं । (यः) जो (तद्) उसे (न) नहीं (वेद) पहचानता, वह (ऋचा) केवल वेद पाठ से (किम्) क्या (करिष्यति) करेगा । (ये) जो (इत्) भी (तत्) उसे (विदुः) जान जाते हैं (ते) वह (इमे) यहां (समासते) जीवन सफल करते हुए रहते हैं ॥

पर, जैसा मैंने अभी बतलाया था, यह दूसरा कार्य्य विशेष जीवन के अभ्यास के बिना सिद्ध नहीं हो सकता । अतः पढ़ लिख कर भी लोग अन्धेरे में ही रहा करते हैं । जैसे प्रकाश-मय जीवन वालों के लिये वेद परम सुख का वचन देता है, वैसे ही आत्मा के हित को विषय-वासनाओं से दबाने वाले लोगों के लिए इस आत्म-हत्या * का भयङ्कर परिणाम भी बतलाया है ।

---

* उस तरह तो आत्मा अविनाशी है । परन्तु आत्मा का जीवन तभी तक समझो जब तक वह अपने शरीर तथा इन्द्रियों को अपने लक्ष्य की सिद्धि में लगाये रहता है । तभी वह भोक्ता है अन्यथा भुक्त होजाता है ।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।
इन्द्रियाणिहयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ कठ० ३ । ३ ॥

* (२०) असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३०॥
य० ४० । ३ ॥

(असुर्य्याः) असुर-भाव से युक्त (ते) वह (नाम) निश्चय करके (लोका) लोक हैं (अन्धेन) गाढ़ (तमसा) अन्धेरे से (आवृताः) ढके हुए हैं । (तान्) वहां (ते) वह (प्रेत्य) शरीर छोड़ कर (अपिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं (ये) जो (के च) कोई भी (आत्महनः) आत्म-घाती (जनाः) नर हैं ॥

ऐसे लोगों की गति पशु प्रवृत्ति † से युक्त होने के कारण उच्च नहीं हो सकती । वे ऐसी योनियों में घूमते हैं, जहां उनका विषय-तृष्णा से उपराम हो जावे । अर्थात् वह ज्ञानमार्ग पर नहीं पड़े । वे प्रकाश से रहित हैं । वे थक कर ही सुधर सकते हैं । अतः मनुष्य को चाहिये कि केवल स्वार्थ तथा उदर-पूर्त्ति को ही परम धर्म न समझे, वरन प्रभु के चरणों में नित्य रमण करता हुआ जन्म मरण के भय से मुक्त होने का यत्न करे । अन्यथा यह चक्र कभी भी समाप्त होने वाला नहीं है । एक देह छोड़ो, दूसरा तय्यार है । इस चक्र से निकलने का उपाय बतलाते हैं ॥

---

* दीर्घतमा ऋषि, आत्मदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः ।

† यह 'असुर्य्य' शब्द का अर्थ है । असुर=असु अर्थात् प्राणों में लगा हुआ । इन्द्रियों के विषयों के सुख को ही लक्ष्य बनाने वाले लोग पशुओं से बढ़ कर न समझने चाहियें । उनमें भेद ही क्या है ? जिनकी ऐसी ही वासनाएं होती हैं, उन्हें ऐसे ही जन्म मिलते हैं। युक्ति ऊपर दीगई है और प्रमाण यह है।

* (२१) प्र च्यवस्व तन्वं सं भरस्व मा ते गात्रा विहायि मो शरीरम् । मनो निविष्टमनु संविशस्व यत्र भूमे र्जुषसे तत्र गच्छ ॥ २१ ॥

अथर्व० १८ । ३ । ६ ॥

(तन्वम्) शरीर को (प्रच्यवस्व) छोड़ दे, (संभरस्व) दूसरे को धारण कर, (गात्रा) अंग (उ) या (शरीरम्) शरीर (ते) तुझ से (मा विहायि) जावे नहीं। (निविष्टम्) धारण किए हुए (मनः †) मन में (अनुसंविशस्व) पुनः रमण कर। (भूमेः) भूमि के (यत्र) जिस भाग को (जुषसे) वासनानुसार चाहता है, (तत्र) वहां (गच्छ) जा ॥

(२२) ‡ अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ३२ ॥

अथर्व० १० । ८ । ४४ ॥

(अकामः) कामना रहित (धीरः) सर्वज्ञ (अमृतः) अमृत-स्वरूप (स्वयम्भुः) सदा से अपनी सत्ता को स्थिर रखने वाला, (रसेन तृप्तः) आनन्द से पूर्ण, (न) नहीं

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ गीता ८ । ६ ॥

* अथर्वा ऋषि, यम देवता, त्रिष्टुप् छन्दः ।

† इसी इशारे को पा कर, संभव है, पीछे ऋषियों ने यह सिद्धान्त दृढ़ किया हो कि शरीर छोड़ते हुए आत्मा अपने लिंग-शरीर को भी साथ ही रखता है । देखो, बृहदारण्यक ४ । ४ । ६ ॥ तथा गीता १५ । १८ ॥

‡ कुत्स ऋषि, अध्यातम-देवता, त्रिष्टुप् छन्दः ।

(कुतः-चन) कहीं से भी (ऊनः) त्रुटि वाला (तम्) उसे (एव) ही (आत्मानम्) सर्वव्यापक (धीरम्) बुद्धिमान् (अजरम्) क्षय-रहित (युवानम्) सदा युवा परमेश्वर को (विद्वान्) जानने वाला (मृत्योः) मृत्यु से (न) नहीं (बिभाय) डरता है ॥

मृत्यु का भय सब को भयभीत बना रहा है। इस का कारण मिथ्या ज्ञान ही समझना चाहिये। जब आत्मा, परमात्मा और प्रकृति नित्य हैं, इनका सम्बन्ध नित्य है, तो फिर मरना क्यों भय का उत्पन्न करने वाला हो ? यह भ्रम तब तक दूर नहीं होगा, जब तक नित्य, अविनाशी प्रभु की भक्ति के रस से मनुष्य अपने शुष्कपन को दूर नहीं करता। उस के आनन्द में मग्न रहने से अपना और उसका कभी भी न टूटने वाला सम्बन्ध सदा सामने प्रत्यक्ष रहता है। शरीर हो या न हो, वह सदा हमारे पास है। और, शरीर है किस लिए ? इसी लिए कि हम इस साधन की सहायता से सत्य में निष्ठा रखने वाले सच्चे गुरुओं की सेवा करते हुए, उन से आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर सकें। जब वह लक्ष्य पूरा होगया, तो अब साधन रहे, तो प्रभु की इच्छा, न रहे, तो उसकी इच्छा। न यहां हर्ष है, न यहां शोक है। इसी को मृत्यु से अभय होना कहते हैं ॥

इस प्रकार संक्षेप से अब तक वैदिक-संसार के मूल तत्त्वों के स्वरूप का कुछ वर्णन मैंने आप को सुनाया है। जाने से पूर्व मोटी २ बातों का संग्रह सुन लो—

१—संसार मिथ्या नहीं है। परिवर्त्तन संसार का धर्म है,

पर, अत्यन्त अभाव किसी पदार्थ का नहीं हो सकता। यह प्रवाह रूप से अनादि है। मूल-प्रकृति स्वतन्त्र नित्य तत्त्व है।

(२) जीवात्मा दूसरा नित्य तत्त्व है । यह प्रत्येक शरीर को जीवन देता है। यह स्वरूप से मरने और पैदा होने के बन्धन से मुक्त है। परन्तु अपने संस्कारों के प्रभाव से भिन्न २ योनियों में जाता है । लोगों का यह कहना कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त वेद में नहीं है, स्पष्ट मन्त्रों के प्रकाश में एक व्यर्थ भ्रम ही प्रतीत होता है।

(३) परमात्मा, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, सारे संसार का कर्त्ता, धर्त्ता है। अविद्या का कभी उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। जीवों के अपने कर्मानुसार ही, न्यायानुकूल, उनके हित के लिए भिन्न २ फलों को उन्हें देता है। न वह कभी जगदाकार और न कभी जीवनरूप बनता है।

(४) प्रत्येक आध्यात्मिक तत्त्व का बोध वेद के पवित्र स्वाध्याय से ही ठीक २ हो सकता है।

(५) शिक्षा का आदर्श इस बोध से युक्त करके प्रत्येक विद्यार्थी को प्रभु-चरणों में पहुंचा कर मृत्यु के भय से मुक्त करना है।

(६) इस के लिए शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के निश्चित क्रम के अनुसार उन्नत कराने की आवश्यकता है। इन्हें मिथ्या नहीं, वरन सच्चा समझ कर उपयोगी साधन बनाने का यत्न करना चाहिए।

यह मुख्य बातें अब तक आप सुन चुके हैं। यही सिद्धान्त-

रूप से हमारा कर्त्तव्य कर्म है। अब कल से क्रम वार शरीर आदि के द्वारा हमें क्या करना चाहिए, इसका वर्णन करूंगा। मुझे विश्वास है कि जिस लग्न से आप ने वेद सन्देश के इस भाग को सुनकर लाभ उठाया है, वैसे ही आगे भी करोगे। बस, इसी बात का ध्यान रक्खो कि जीवन में हमारी परीक्षा हो रही है। जितने हम बलवान्, बुद्धिमान् और धर्मात्मा होंगे, उतना अधिक अच्छी तरह से उस परीक्षा में से पार हो सकेंगे। बिल्ली की झपट तय्यार है। कबूतर आंखें बन्द कर लेता है। पर, बच नहीं सकता। ऐसे ही सब कुछ सुख है, सभी कुछ दुःख है, संसार मिथ्या है, इसे छोड़ दो, इत्यादि झूठी बातों में पड़े रहने से हमारी हार ही होती है। प्यारो, जाओ, इन बातों पर विचार करो। कल से उन नियमों का उपदेश होगा, जिन्हें धारण करने से मनुष्य सदा विजयी हो सकता है।

सत्यकाम और शंकरानन्द ने झुक कर प्रेम से 'नमस्ते' कही और बाहिर निकल गए।

इति तत्त्व-सन्देशे तृतीय उच्छ्वासो वेद-सन्देशे
तत्व-सन्देशो नाम प्रथमोऽध्यायश्च ॥

———:o:———

अथ शरीर-सन्देशो नाम
द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम उच्छ्वासः।

शारीरिक जीवन।

गत सप्ताह में मायाराम के लिए एक नया ही संसार खुल गया था। नगर में वह एक प्रभाव-शाली मनुष्य थे। यद्यपि वेदान्त के उलटे उपदेशों से वह अन्दर से नास्तिक हो चुके थे, तथापि लोग उन्हें लापरवाह बादशाह ही समझा करते थे। अब जब कि उन के अन्तः करण के किवाड़ खुल रहे थे, उन्हों ने यह अपना कर्त्तव्य समझा कि अपने स्तुति करने वाले, सीधे साधे, भूले-भटके नगर-निवासियों को भी इस नए मार्ग का पता दें। इस विचार को पक्का करते हुए, उन्हों ने दस बीस भक्तों से वार्त्तालाप करते हुए महात्मा जी के सत्संग का वर्णन किया। उन्हों ने बात और आगे पहुंचाई। इसका आज परिणाम दिखाई देने लगा। आज केवल सत्यकाम और मायाराम ही नहीं, बल्कि कई और सज्जन भी महात्मा के मुखारविन्द से उपदेश अमृत का पान करने के लिए पहुंचे हुए थे। सत्यकाम ने विनय-पूर्वक निवेदन किया।

सत्य०—महाराज, आज कृपया अपने विचार के अनुसार शरीर के सम्बन्ध में उपदेश करके कृतार्थ करें।

महा०—सज्जनो! मुझे यह देखकर बड़ा सन्तोष होरहा है कि आप के अन्दर वेद का सन्देश सुनने की इच्छा पैदा हुई

है। कुछ दिनों से यहां चर्चा चल रही है। मैं यत्न करूंगा कि आज से जो क्रम चले, उस में बहुत सूखापन न हो। मैंने दो तीन दिन बीते, यहां पर बतलाया था कि वेद में जगत् को वृक्ष के रूप में प्रकट किया है। कांटना, छांटना, तराशना ही यहां दिन रात होता रहता है। क्षणभर भी तो किसी परमाणु को स्थिरता प्राप्त नहीं होती। दिन रात चक्र चलता है। सूर्य्य, चन्द्र और तारागण नित्य अपने २ नियमों का पालन करते रहते हैं। दिन उदय होता है और अस्त हो जाता है। पन्द्रह दिन एक २ कला बढ़कर पूर्णमासी की रात्रि होती है और फिर चांद घटना आरम्भ हो जाता है। बीज पृथिवी में डालते हैं। अंकुर फूटता है। उसके ऊपर दो तीन लाल २ पत्तियां क्या सुन्दर लगती हैं। यह नए जीवन की लाली है। वृक्ष बड़ा होता है। फल से लद जाता है। फल पक कर लाल होता है। यह पक्केपन की लाली है। असूज और कार्त्तिक में पत्ते पीले और लाल होते चले जाते हैं। वायु के झकोरे, उन के अन्दर सर २ की ध्वनि किया करते हैं, मानो मोह माया में फंसाकर अपने साथ ही घसीटे लिये जाते हैं। वृक्ष का तना नंगा हो रहा है। फल गिरकर प्राणियों का भोजन बन रहे हैं। बीज भूमि में प्रवेश करके चक्र को दुहराने लगा है। वसन्त फिर आ पहुंचा है। हरी २ कोंपलें निकलने लगी हैं। सुन्दर, रंगीले, सुहावने, सुगन्धित फूल उभर २ कर वन के सौंदर्य्य को बढ़ा रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है, प्रकृति देवी लम्बी निद्रा के उपरान्त नेत्र उघाड़ २ कर अपने ललित लावण्य को निहार रही है।

यही चक्र-क्रम पशु, पक्षी, वायु, जल, आदि पदार्थों के जीवन में पाया जाता है ।

जितना मनुष्य इन बातों पर ध्यान करता है, उतना अधिक वह इस अपार संसार की गुप्त लीला में विश्वासी होता जाता है । उसका अपना शरीर छोटे पैमाने पर इसी का एक चित्र है । पृष्ठवंश (रीढ़ की हड्डी) से सूक्ष्म तन्तु-जाल निकल कर सारे शरीर में फैल रहा है । मस्तिष्क की बनावट बड़ी विचित्र है । नेत्र, कान आदि की रचना विस्मित करने वाली है । कण्ठ, नासिका और मुख के सांझे द्वार, जिह्वा की सुन्दर स्थापना तथा इस की बोलने की क्रिया और चखने के संस्कार ग्रहण करने के कार्य्य में उपयोगी साधन बनना, हृदय की कोठरियों का रक्त शोधन करना, फेफड़ों की धौंकनी का आश्चर्य्य-जनक कार्य्य, अठारह हाथ लंबी, नरम २ नाली का नाभि-मूल में सर्पाकार बिछा हुआ होना और मूली, गाजर, सेब, केला, दाल और भात आदि भिन्न २ भोजनों के पकाने की भट्टी की रचना—यह, और अन्य अनन्त नस नाड़ी के संबंध, जोड़ों के जोड़, हड्डी, मांस, मज्जा आदि धातुओं के विस्मय-जनक रीति से संघटन, उत्पत्ति और अवस्थापन, नित्य की आवत, खपत, रुधिर-प्रवाह आदि अनेकानेक बातों का ध्यान करें, तो प्यारो, दूसरा संसार ही प्रतीत होता है । अथर्ववेद के दसवें काण्ड का दूसरा सूक्त इस का विस्तार-पूर्वक वर्णन करता है * । इस के दो

---

* यदि कोई योग्य वैद्य, आधुनिक शरीरविज्ञान का सहारा लेकर इस सूक्त की सम्पूर्ण व्याख्या करे, तो बड़ा उपकार हो ।

मन्त्रों की ओर एक दिन संकेत भी किया गया था। शरीर-विज्ञान (Anatomy) का यह मूल है। फिर कभी अवसर हुआ तो शरीर का चित्र सामने रखकर इन मंत्रों की व्याख्या करूंगा। आज तो इस के उपयोग तथा रक्षा के विषय में ही आप को कुछ सुनाऊंगा।

यह कह कर महात्मा जी माथे पर हाथ रख कर एक क्षण के लिए सोचने लगे थे, कि आए हुए श्रोतृवर्ग में से एक वस्तु-स्वरूप नामक महाशय बोल उठेः—

वस्तु०-महाराज! यह सब कुछ क्यों? इतने चक्रों को चला कर प्रभु को क्या स्वाद आ रहा है? बेचारे संसारी जीव जन्तु जन्म-मरण के चक्र में घूम २ कर बेसुध हो रहे हैं। एक दुःख की समाप्ति नहीं होती और दूसरा आ जाता है। कोई सन्तान के और कोई माता-पिता के वियोग में खाना पीना और सोना भूल कर सदा आकाश की ओर आंखें लगाए रहता है और मोटे २ आंसुओं की क्रमा क्रम वर्षा करता हुआ सिर के बालों को नोच २ कर बेहाल हो रहा है। वह सुनो, गली के दूसरे सिरे पर एक महतारी करुण रुदन कर रही है। यह कल की बात है, वह अपने सिर के ताज के संग आनन्द-वन में मटक २ कर चलती थी। पर, हा दैव-पिशाच, रात की रात में क्या होगया? वह अब अनाथ, दीन, क्षीण विधवा रह गयी है। अब उस का कोई रखवाला नहीं। भगवन्, इस जीवन में क्या रस है? इस शरीर को पाल २ कर क्या लाभ होगा। किसी ज्ञान ध्यान का उपदेश करें।

महा०—नहीं, नहीं। भोले भाई, तुम किस भूल में पड़े हो ! क्या अच्छा होता, तुम ने पिछले दिनों में वेद की पवित्र कथा सुनी होती। वेद का आश्रय लेते हुए, उपनिषदों तथा वेदान्त-सूत्र आदि शास्त्रों ने स्पष्ट बतला दिया है कि भगवान् क्योंकर सुख, दुःख का बटवारा कर रहे हैं। हम कर्म करते हैं। उनका फल चखाने में यह संसार साधन बन रहा है। हम अपने शरीर, मन तथा इन्द्रिय-गण का ठीक २ बर्त्ताव करते हुए, पुण्य कर्म को करते रहें और प्रभु की लीला को देखते हुए श्रद्धा से उस की उपासना करना सीख जाएं, तो सभी ज्ञान, ध्यान उसी में आ सकता है। रचना की विचित्रता, नियम पूर्वकता तथा सुन्दरता का विचार करके नास्तिक भी आस्तिक बन जाते हैं।

इस शरीर को व्यर्थ दुःख का हेतु मत समझो। यह हीरा जन्म है। यह पारस मणि है। यह वैतरणी नदी है। इस के सारे नियमों का पालन करता हुआ ही, नर पार जा सकता है। यह शरीर धर्म, कर्म में सहायतार्थ ही प्रभु ने दे रक्खा है। दीन, हीन, अनाथ, अपाहज की सेवा करना कितना पवित्र कार्य्य है। अर्थी का अर्थ पूरा करना कितना पवित्र कार्य्य है। ऋषि मुनि, साधु, महात्मा, माता, पिता, गुरु, आचार्य आदि पूज्यों की पूजा करना कितना पवित्र कार्य है। ज्ञानवान् होकर लोक-लोकान्तर में मनुष्य-मात्र का सुधार करना कितना पवित्र कार्य है। तप और व्रतचर्या का कठिन जीवन व्यतीत कर भक्तिभाजन, भव के भव्य भाव के चारों ओर भ्रमर बनकर मस्त

रहना कितना पवित्र कार्य है। सब बन्धनों से मुक्त हो कर, सब संशयों को मिटा कर, सदानन्द-घन प्रभु के पवित्र चरणों में नित्य, नम्रता से झुक २ कर नित्य आनन्द का पान करना कितना पवित्र कार्य है। तो हे सत्संगियो, इस सारी कार्यवाही में शरीर ही तो प्रथम साधन है। इसके विना यह जीवन-योग सिद्ध नहीं होसकता। इच्छा मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। एक बालक मकान की छत्त पर कूद कर पहुंचना चाहता है। पिता उसकी मूर्खता को समझता है और उसे हटा लेता है। हम भी सब बालक हैं। हमने परमानन्द की छत्त पर चढ़ना है। इसके लिए एक २ सीढ़ी चढ़ कर, पूर्ण योग्य होना आवश्यक है। वृथा धींगा धींगी से अपना नाश और जगत् में उपहास होता है। संसार की भी इस में हानि है। सिद्धि का उदाहरण दूसरों को उभारता है। नाश का चित्र उठती हुई उमंगों को दबा देता है।

सत्य०-लोग तो कहते हैं, अमुक महात्मा पर विश्वास करो, अमुक प्रकार से रहन सहन कर लो, मुक्ति हो जावेगी। आप तो बड़ा लंबा मार्ग बता रहे हैं।

मा०-हमने वेदान्त की अवस्था में यही सुना हुआ था कि 'अहं ब्रह्म' के जाप ही से मुक्ति हो जाती है।

महा०-प्रियवर्ग ! हम से पूर्व लोगों ने सस्ती मुक्ति लेनी चाही। कोई शरीर को मार कर, कोई आंखें फोड़ कर, कोई टांगें तोड़ कर, कोई भुजा सुखा कर, कोई देह को टेढ़ामेढ़ा कर

के कोई विश्वास के बल से—अनेक प्रकार से लोग परम पद को पहुंचना चाहते थे। पर, परिणाम क्या हुआ ? ढीठपने से विषय-वासनाओं को दबाने से, शक्तियों का नाश करने से संसार में पाप अधिक बढ़ा। सामने से हट कर पाप परदे के पीछे राज्य करने लगा। पृथिवी माता से पूछो कि इन उलटे पन्थों के प्रचार के कारण, इसकी गोद में कितने अत्याचार हुए हैं, कितना व्यभिचार बढ़ा है, कितनी गर्भ-हत्या हुई हैं, कितनी चरित्र-हत्या और कितनी अबला-हत्या से गुण्डे, चरित्र-रहित पुजारियों ने मुंह काला किया है। इस लिए यही समझो कि शीघ्रता का परिणाम अच्छा नहीं होता। ठीक समय पर ही पका हुआ फल शोभा देता है। परमपिता का धन्यवाद करो जिसने हमें सब कार्यों में सहायक, शरीर प्रदान किया है। निराशावाद के गढ़े से निकल कर्मवीर बनो।

वस्तु०—महाराज ! तनिक और खोलकर बतलाइएगा। आप की यह बातें मानकर तो धर्म के सम्बन्ध में भी हमें अपने विचार बदलने पड़ेंगे।

महा०—प्यारे, शरीर के बिना धर्म-कार्य्य हो ही नहीं सकते, अतः इसे रोगों तथा दुर्व्यसनों से बचा कर, दीर्घकाल तक अपने लिये उपयोगी बनाए रखना बड़ा भारी धर्म का अंग है। परलोक इस लोक के ऊपर निर्भर रहता है। अतः वह धर्म पूर्ण नहीं हो सकता, जिस में इस जीवन की सफलता का पूर्णतया उपदेश न मिलता हो। इस से यह तात्पर्य्य है कि मनुष्य इतना पुण्य संचय कर सके कि वह यहां भी सुखी रहे और आगे भी सद्-

गति को प्राप्त हो सके। कई लोगों ने धर्म का अभिप्राय केवल भक्ति और दान आदि ही समझ रक्खा है। उन्हें यह जीवन एक त्याग करने योग्य, हीन वस्तु प्रतीत होता है। परन्तु वह इस बात को भूल जाते हैं कि शारीरिक जीवन की उत्तमता के साथ ही आत्मा का ठीक विकास होता है। हमें अपने पूर्व कर्मों के अनुसार यह कर्म-योनि मिली है। फिर इस से इतनी घृणा क्यों? यह भ्रम-मूलक शिक्षा की उपज है। सभी चिर तक जीना भी चाहते हैं और सुखी भी होना चाहते हैं। जब इन स्वाभाविक संस्कारों को पांव तले रोंद कर, चित्त को उकसा कर किसी पन्थ का प्रचार किया जाता है, तो थोड़े दिनों के लिए प्रतीत होता है कि संसार बदल गया है। बौद्ध, जैन, हठयोगी, रोमन कैथोलिक ईसाई आदि लोग इस मांस और हड्डी के पुतले को पाप का घर समझते थे। परन्तु इस मकान की नींव बड़ी कच्ची होती है। थोड़े ही दिनों में दीवारें हिलने लगती हैं। स्वभाव प्रबल होता है और हज़ारों प्रकार की ख़राबियां पैदा होने लग जाती हैं। यह वैदिक धर्म की विशेष पूर्णता है कि इस में सांसारिक जीवन को सफल बनाने का पूर्ण उपदेश पाया जाता है। इस लिये वैशेषिक दर्शन के आरम्भ में ही धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कणाद मुनि कहते हैं 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात्, धर्म उन विचारों तथा आचारों का नाम है, जिनके द्वारा यहां पूरी सफलता और पीछे मोक्ष लाभ होता है। अतः शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक—सभी प्रकार की एक साथ उन्नति

करते जाना ही धर्म-परायणता है । संसार मिथ्या नहीं; अतः इस जीवन को परीक्षा-भूमि जान कर सब प्रकार के पापों का बल पूर्वक सामना करना चाहिए ।

मा०—क्या यह वैदिक धर्म इसी रूप में आज भी पाया जाता है ?

महा०—कुछ बातों में । पर प्रतिदिन कम होरहा है । पूर्वोक्त भावों को ही लेकर आर्य-जाति नें शौच तथा व्यायाम के नियमों को धर्म का अंग बना रखा था । अब तक आर्य देवियों और पुरुषों में प्रातः उठना, बाहर जंगल में जाना, नदी-तट पर या और कहीं शुद्ध वायु का सेवन करना, दांत साफ करना और स्नान करना पाया जाता है । आज की पठित-मंडली में इन बातों का प्रचार कम होता चला जा रहा है । जब तक यह बातें धर्म-भाव से की जाती रहीं, जाति की हड्डी पक्की रही । आजकल तो बाहिर चमक है, अन्दर अन्धेरी रात है । आलस्य और प्रमाद प्रधान हैं । प्रत्येक बातकी बाल की खाल उतारना हमारे अन्यथा नीरस जीवन का जीवन-रस बन रहा है । पर, कहने और करने के बीच में पहाड़ खड़ा है । यही कारण है कि पहिले से वैद्य और डाक्टर अब अधिक हैं और रोग भी अधिक होता जा रहा है । अब लोग मज़े से रातों जागते और गन्द बला खाते पीते हैं । जब तक जेब में पैसों की टंकार है, द्वार पर डाक्टर साहिब सदा तय्यार हैं । बाज़ार में चिकनी चुपड़ी चीज़ों की भरमार है और हम मूर्ख, जिह्वा के स्वाद के लिए खाने पर लाचार हैं । मूर्खता की भी कोई अवधि नहीं । कुछ

लोग ऐसे भी हैं, जो व्यायाम आदि द्वारा भी हिंसा-पाप का होना मानते हैं। परन्तु ये अवैदिक भाव हैं। वेद तो सभी को स्वस्थ ही देखना चाहता है।

पतञ्जलि मुनि अपने योग-शास्त्र में रोग, आलस्य तथा अन्य अस्थिरता आदि दोषों को आत्म-दर्शन में बाधक मानते हैं *। अतः यह भी मूर्खता और भ्रम ही समझो कि शरीर को दुर्बल रख कर ही आत्मिक आनन्द मिलता है। इस प्रकार के विचारों को रोक देना चाहिये, क्योंकि जगत् में पुण्य के स्थान पर पाप, उपकार के स्थान पर अत्याचार बढ़ता है।

वस्तु०-महाराज, यदि ऐसी ही बात है, तो यह उलटा ज्ञान चल कैसे पड़ा। क्या वेद में यह भाव नहीं पाये जाते ?

महा०-बोले, प्रश्न सदा यह करना चाहिये कि ज्ञान कैसे होता है ? अज्ञान, मिथ्या भ्रम तथा उलटी बातें तो उस ज्ञान के ठीक न समझने से किसी समय भी प्रचलित होसकती हैं। तुम्हारा दूसरा प्रश्न ही अब सामने है। वेद में निराशावाद, दुःखवाद, मिथ्यावाद, उदासीनता-वाद आदि अनेक नामों वाली, इस ऊपर वर्णन की हुई बीमारी का कोई मूल नहीं है। वेद तो जीवन को संग्राम-भूमि बतला कर शक्ति-सम्पन्न होकर वीरता के जौहर दिखाने का ही उपदेश करता है। लो सुनो, इस बात की पुष्टि के लिए थोड़े से मन्त्रों का अर्थ आज आप को समझाता हूं।

---

* व्याधिस्त्यान संशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ समाधिपाद सूत्र ३०। ३१॥

* (१) स नो वाजाय श्रवस इषे च राये धेहि द्युमत इन्द्र विप्रान्। भरद्वाजे नृवत इन्द्र सूरीन् दिवि च स्मैधि पार्ये न इन्द्र ॥ ३३ ॥

ऋग्० ६ । १७ । १४ ॥

(इन्द्र) ऐश्वर्य्य के स्वामिन् प्रभो (नः) हमारे मध्य में (द्युमतः) विद्या से प्रकाशित (विप्रान्) विद्वानों को (धेहि) स्थापित करो, ताकि हम (वाजाय) बल (श्रवसे) यश (इषे) अन्नादि (राये) धन सम्पत्ति को पा सकें, (भरद्वाजे) बल को धारण करनेवाले (भरद्वाज) के निमित्त से (नृवतः) नरों से युक्त (सूरीन) प्रतिभा शालियों को (धेहि) धारण करो। (पार्ये) पार करने योग्य (दिवि) प्रकाशमय जीवन के लिए (च) भी (नः) हमारा (एधिस्म) सहारा बनो ॥

यह प्रत्येक समाज के विद्या से युक्त नेता ही होते हैं, जिन की सहायता से सर्व साधारण, धन, ऐश्वर्य्य, स्वास्थ्य आदि इच्छा करने के योग्य पदार्थों को प्राप्त कर सकते हैं। वेद उपदेश करता है कि इन वस्तुओं का धारण करना तुम्हारा धर्म है।

† उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्त्तयाति वर्तनिं सुजातता। अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥३४॥

अथर्व० १६ । १२ । १ ॥

---

* भरद्वाजो बार्हस्पत्य ऋषिः, इन्द्रो देवता, निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः।

† ऋषि ब्रह्मन्, देवता सौम्यम्, छन्दः त्रिष्टुप्।

(उषाः) प्रातः की लाली (स्वसुः) बहिन रात्रि के (तमः) अन्धकार को (अप) दूर कर के (वर्त्तनिम्) संसार-मार्ग को (सुजातता) अपनी ज्योति से (सं वर्त्तयति) भर देती है। (अया) इस के द्वारा (देवहितम्) विद्वानों द्वारा धारण किये हुए (वाजम्) बल को (सनेम) प्राप्त हों, (सुवीराः) अच्छे वीरों से युक्त हो कर (शतहिमाः) सौ वर्ष तक (मदेम) आनन्द करते रहें ॥

वस्तुतः इन उपदेशों के ही प्रभाव से आर्यों के यहां ब्राह्म-मुहूर्त्त में उठना धर्म माना गया है । विद्या और बल दोनों ही अभीष्ट बातें हैं। प्रातः उठने वाला दोनों सिद्ध करता है।

*(३) मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३५॥
अथर्व० १६। १६। १ ॥

† (मित्रः) मित्र (पृथिव्या) पृथिवी के द्वारा उन्नत होता है। (ताम्) उस प्रसिद्ध शरीररूपी (पुरम्) नगरी को (वः) तुम्हारे लिए (प्रणयामि) तय्यार करता हूँ (ताम्) उस में (आविशत) पूर्ण हो जाओ (ताम्) उस में (प्र-विशत) प्रवेश करो (सा) वह (वः) तुम्हें (शर्म) शान्ति (च) और (वर्म) रक्षा की (यच्छतु) दिलाने वाली हो ॥

* अथर्वा ऋषिः, मित्रो देवता, छन्दः भूरिग् बृहती (?) गद्य रचना की प्रधानता है।

† मित्र से साधारण तात्पर्य सूर्य का होता है। सायण यहां अग्नि अर्थ करता है। कारण कि, सूर्य का आगे पृथक् वर्णन है। अग्नि का पृथिवी पर

इस मन्त्र के साथ सूक्त का आरंभ होता है। उसे अब आप के सम्मुख कहूंगा। इस में बतलाया है कि प्रभु ने इस शरीर-रूपी नगरी को हमें प्रदान किया है। इस नगरी * में ठीक प्रकार से हमें रहना चाहिये इसे ठीक तरह से योग्य साधन बना कर हम आत्मिक शान्ति भी प्राप्त कर सकते हैं और पाप तथा रोग आदि से सुरक्षित भी रह सकते हैं।

† वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३६॥

पूर्व सूक्तम् ॥ २ ॥

(वायुः) वायु (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्षके द्वारा (उदक्रामत्) उन्नत होता है। शेष पूर्व वत् ॥

अन्तरिक्ष वायु का निवास-स्थान है, जैसे शरीर हमारा है। इस की अवहेलना करके हम अपनी उन्नति ही रोकते हैं। अतः इसे अपनी लक्ष्यपूर्त्ति में साधन बनाना चाहिये।

अधिष्ठान है और आगे अलग वर्णन भी नहीं। पर मित्र से उदय होने वाले सूर्य का वर्णन हो सकता है। पृथिवी की गति से ही वह उन्नत होता हुआ प्रतीत होता है।

* वेद में कई स्थानों पर शरीर को पुरी कह कर वर्णन किया है। नमूने के लिये देखो अ० १, उच्छ्वास १, मंत्र ४ ॥

† ऋषि आदि पूर्व मंत्र की तरह सूक्त की समाप्ति तक चलेंगे। यहां वायु देवता समझना चाहिए। अगले मंत्रों में जिस २ पदार्थ का मुख्य उदाहरणरूप से संकेत हो, उसे ही उस २ मंत्र का देवता समझो।

(५) सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३७॥
॥—३॥

(सूर्यः) सूर्य (दिवा) द्युलोक के साथ, इत्यादि पूर्ववत्॥

(६) चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३८॥
॥—४॥

(चन्द्रमाः) चान्द (नक्षत्रैः) नक्षत्रों के साथ, इत्यादि पूर्ववत्॥

(७) सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥३९॥
॥—५॥

(सोमः) सोम (ओषधीभिः) ओषधियों के साथ, इत्यादि पूर्ववत्॥

(८) यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४०॥
॥—६॥

(यज्ञः) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्य्यन्त (दक्षिणाभिः) दक्षिणाओं से ही (उदक्रामत्) सफल होता है, इत्यादि पूर्ववत्॥

(९) समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४१॥
॥—७॥

(समुद्रः) समुद्र (नदीभिः) नदियों के द्वारा ही (उदक्रामत्) उन्नत होता है इत्यादि॥

(१) ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुद्क्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४२॥
॥—८॥

(ब्रह्म) वेद तथा ईश्वर (ब्रह्मचारिभिः) वेद-परायण ब्रह्मचारियों द्वारा ही (उदक्रामत्) विख्यात होता है। पूर्ववत् ॥

(११) इन्द्रो वीर्य्येणोदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४३॥
॥—६॥

(इन्द्रः) ऐश्वर्य्य शाली राजादि (वीर्य्येण) वीर्य्य बल से ही (उदक्रामत्) उन्नति को प्राप्त होता है। शेष पूर्ववत् ॥

(१२) देवा अमृतेनोद्क्रामंस्तां पुरं प्रणयामि वः ।
तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥४४॥
॥—१०॥

(देवाः) विद्वान् (अमृतेन) अमृत-पद द्वारा ही पूर्ण उन्नत होते हैं। शेष पूर्ववत् ॥

(१३) * प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्रणयामि वः । तामाविशत तां प्रविशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ४५ ॥ अथर्व० १६। १६। ११ ॥

* इन ग्यारह मन्त्रों के अर्थ पर विचार करने से हमारे शारीरिक जीवन का महत्त्व हमारे सामने प्रकट होता है। तीन सम्बन्धों में हमारा शरीर हमारे साथ जुड़ा हुआ है। १—हम इस के अन्दर रह कर कर्म का भोग करते हैं ।

(प्रजापतिः) प्रजापति (प्रजाभिः) प्रजाओं से ही (उदक्रामत्) बलवान् होता है, इत्यादि पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

***(१३) इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्। त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्य्याणि तान्यग्निः प्रददातु मे ॥४६॥** अथर्व० १९। ३७। १॥

(इदं) यह (वर्चः) † चमक (अग्निना) चमक वाले प्रभु

जिस तरह अग्नि, वायु और सूर्य्य क्रम से पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक में ठीक प्रतिष्ठित होते हुए ही अपने २ कार्य को करते हैं, उसी तरह हमें भी यत्न करना चाहिये कि हम भी अपने शरीर के अन्दर सुप्रतिष्ठित हों। २—चन्द्रमा नक्षत्रों के बिना और सोम ओषधियों के बिना शोभा नहीं देते। उनका गौरव उन के साथ ही हैं। इसी तरह हमारा और हमारे शरीर का विशेष समय के लिए मेल है। यदि हम गन्दे रहेंगे, दुर्बल, पतले, पीले शरीर वाले होंगे, तो हमारी मूर्खता ही टपक रही होगी। ३—यज्ञ की महिमा दक्षिणा में है। इस के बिना वह सफल नहीं समझा जाता। नदियों के निरन्तर बहते रहने से ही समुद्र की गंभीरता का यश स्थिर रहता है। व्रतों और तपों को करने वाले महर्षि दयानन्द जैसे ब्रह्मचारियों के ही प्रताप से वेद का उद्धार होता है। निःसत्त्व, व्यभिचारी राजा वीरता से शून्य हो जाता है। उस के नौकर उस पर शासन करने लग जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा की महिमा उद्देश-पूर्त्ति तथा सिद्धि तब ही ठीक २ हो सकती है, जब वह पूर्ण-चित्त से युक्त होकर शारीरिक-जीवन की नींव को गहरा खोद कर उस में व्यायाम आदि द्वारा खूब कुटाई करे।

* अथर्वा ऋषि, अग्नि देवता और त्रिष्टुप् छन्दः। इस सूक्त में चार मन्त्र हैं। छन्द में पूरी समता नहीं है।

† ग्रिफ़िथ के आगे कदाचित् 'वचः' पाठ था। क्योंकि वह word=शब्द, अर्थ करता है।

द्वारा (दत्तम्) प्रदान की हुई (आगन्) मुझे प्राप्त होरही है । इस के साथ (भर्गः) उज्ज्वलता (यशः) यश (सहः) प्रभाव (ओजः) कान्ति (वयः) यौवन (बलम्) बल भी प्राप्त होरहे हैं। लोक तथा शास्त्र में प्रसिद्ध (यानि) जो (च) और (त्रयस्त्रिंशत्) * तेंतीस (वीर्य्याणि) शक्तियां हैं (तानि) उन्हें (अग्निः) प्रभु (मे) मुझे (प्रददातु) प्रदान करे ॥ ४६ ॥

इस सूक्त में कितने स्पष्ट प्रकार से मनुष्य को उपदेश मिल रहा है । तेंतीस तरह के बलों के संकेत का तात्पर्य असंख्यात् गुण हैं, जो मनुष्य यत्न करने से उपार्जन कर सकता है । प्राचीन वैदिक ऋषियों ने ब्रह्माण्ड को तीन लोकों में बांट दिया है । पृथिवी अर्थात् लोगों के निवास करने योग्य लोक, जहां अग्नि द्वारा विशेष कार्य सिद्ध किये जाते हैं । द्यु-लोक; अर्थात अग्निमय लोक, जहां प्रकाश ही प्रकाश है, जिस के सहारे दूसरे लोकों का भी पालन होता है और जहां सूर्य (हमारे लिए) मुख्य है । तीसरा बीच का लोक (Inter-stellar region), जिस में वायु मुख्य रूप से विचरता, प्रकाश की रश्मियां अपना जाल बिछातीं और मेघ तथा बिजली का खेल होता है । इन तीन लोकों के सार रूप तीन गुण हैं, १—धारणात्मिक २—तेज-आत्मिक ३—गति-आत्मिक । हमें प्रभु ने पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवां मन दिया है । इन ग्यारह के द्वारा ही प्रत्येक आत्मा का पूर्व-उक्त

* ग्रिफ़िथ इसका 'तीनसौ' अर्थ करता है । पाठ तो स्पष्ट है । कारण उसे ही पता होगा कि ऐसा अर्थ क्यों करता है ।

तीन लोकों से सम्बन्ध बना हुआ है। सम्बन्ध का स्वाभाविक परिणाम परस्पर प्रभाव होना चाहिए। अतः इन तीन प्रकार के गुणों से हमारी यह ग्यारह शक्तियां युक्त होकर परस्पर अदल बदल से असंख्य, अवर्णनीय बलों को पैदा कर सकती हैं। वेद बतलाता है कि मनुष्य कहां तक बढ़ सकता है, यह नहीं पूछना चाहिए। जो पूर्व कर्म के फल-रूप तेज और बल हमें अब प्राप्त हैं, उनको बढ़ाने के लिए ही सर्व प्रकार से परिश्रम करना चाहिए। सारा संसार एक बड़ा शक्ति-गृह (Power-house) है। यदि हमारी उक्त रीति से इस के तीन मुख्य केन्द्रों से ग्यारह प्रकार से सम्बन्ध (Connection) जुड़ जावे, तो बस फिर सब सिद्धियां स्वयं ही हमारे पांव चूमने के लिए तत्पर होंगी।

(१५) वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम् ।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय॥४७॥
॥—२॥

हे प्रभो, * (मे) मेरे (तन्वाम्) शरीर में (वर्चः) चमक (सहः) प्रभाव (ओजः) कान्ति (वयः) यौवन (बलम्) बल को (आ धेहि) स्थापित करो। (त्वा) तुझे (प्रति गृह्णामि) धारण

* पश्चिमी भाष्यकारों के विचार में यह प्रार्थना एक कड़े से है, जिसे हाथ में लेकर यह मन्त्र पढ़े जा रहे हैं। उन्हें स्मरण करना चाहिए कि उन के अपने प्रकट किए हुए विचारों के अनुसार भी विनियोग बहुत पीछे के हैं। मन्त्रों के शब्दों को देख कर पीछे कर्म काण्ड में उन का विस्तृत सम्बन्ध जोड़ा गया होगा। सारे सूक्त का देवता अग्नि है, तो सम्बोधन भी उसी से है।

करता हूं, ताकि (इन्द्रियाय) इन्द्रियों की शक्ति बढ़कर (शतशार-दाय) सौ वर्ष पर्यन्त (वीर्याय) मेरा बल और (कर्मणे) कर्म विस्तृत होता चला जावे।

कर्म करना ही सब बल का ठीक अन्त होना चाहिए। बलवान् होकर आलस्य करना मनुष्यत्व से गिरना है।

(१६) ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।
अभि भूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥४८॥

हे प्रभो! (त्वा) तुझे (परि-ऊहामि) सर्व प्रकार से धारण करता हूं, ताकि (ऊर्जे) अन्न आदि (बलाय) बल (ओजसे) ओज (सहसे) प्रभाव (अभि-भूयाय) अधिकार (राष्ट्रभृत्याय) राष्ट्र के पालन करने की शक्ति (शतशारदाय) सौ वर्ष पर्यन्त मुझे प्राप्त होते रहें।

(१७) ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥४९॥अथर्व०१९।३७।४

हे अग्नि-स्वरूप प्रभो, (त्वा) तुझे * (यजे) पूजता हूं, ताकि (ऋतुभ्यः) सब ऋतुओं में (आर्तवेभ्यः) उनमें होने वाले पदार्थों में (माद्भ्यः) मासों और (संवत्सरेभ्यः) वर्षों में (धात्रे) मेरी धारण करने की तथा (विधात्रे) कला कौशल की शक्ति (समृधे)

---

* 'तुझ' से कोई कड़ा आदि अर्थ लेने से ही पश्चिमी विद्वानों को खींच तान करनी पड़ी है। ग्रिफिथ 'गले से बांधता हूं' यह अर्थ बना रहा है। ह्विटने भी बड़ी गड़बड़ में है। 'माद्भ्यः' का अर्थ दोनों 'प्रकाश' करते हैं। इन बातों के कारण अर्थ तो कोई रहता नहीं, वेद कदाचित् बच जावे?

ऐश्वर्य पैदा करने वाली तथा (भूतस्य) सब प्राणि-वर्ग का (पतये) पालन करने वाली शक्ति बनी रहे।

सारे ऋतु हमारे स्वास्थ्य के रक्षक हों। हमारी भिन्न २ शक्तियों का पूरा विकास होता रहे, ताकि हम सब की रक्षा कर सकें।

(१८)*अयुतोऽहमयुतो म आत्माऽयुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ ५० ॥ अथर्व० १९।५१।१॥

(अहम्) मैं (अयुतः) सम्पूर्ण हूं। (मे) मेरा (आत्मा) (अयुतः) सम्पूर्ण है। (मे) मेरी (चक्षुः) आंख (अयुतम्) सम्पूर्ण है। (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कान (अयुतम्) सम्पूर्ण हैं। (मे) मेरा (प्राणः) प्राण (अयुतः) सम्पूर्ण है। (मे) मेरा (अपानः) अपान (अयुतः) ठीक है। (मे) मेरा (व्यानः) सारे शरीर में जीवन देने वाला वायु (अयुतः) ठीक है। (अहं) मैं (सर्वः) सारा (अयुतः) ठीक हूं।

जब कोई काम हाथ में लिया जावे, इन भावों से मन को भर कर ही उसे करना चाहिए। वेद पूर्णता पैदा कराना चाहता है। शरीर के सारे अंग ठीक हों, मन ठीक हो, प्राण ठीक हो, आत्मा ठीक हो, देह को मिथ्या मत समझो।

(१९) † सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः

---

* ब्रह्मन् ऋषि, आत्मा देवता, छन्दः ब्राह्मी अनुष्टुभ्।

† भृगु ऋषि, अग्नि देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

सौमनसस्य दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धाना-स्तन्वं पुषेम ॥ ५१ ॥ अथर्व० १६ । ५५ । ३ ॥

(सायं सायम्) प्रति सायं-काल (अग्निः) (नः) हमारे (गृहपतिः) घरों का स्वामी और (प्रातः-प्रातः) प्रति प्रातःकाल (सौमनसस्य) सुख युक्त मन का (दाता) है । हे भगवन् ! (वसोः वसोः) सब प्रकार की सम्पत्ति के तुम (वसुदानः) ऐश्वर्य-प्रद (एधि) बनो (वयम्) हम (त्वा) तेरी (इन्धानाः)* पूजा करते हुए (तन्वम्) अपने शरीर आदि को (पुषेम) पुष्ट करें ॥ ४८ ॥

(२०) † प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं-सायं सौमनसस्य दाता । वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥ ५२ ॥ ॥—४ ॥

(प्रातः प्रातः) हर प्रातः (अग्निः) प्रकाशक प्रभु (नः) हमारे (गृहपतिः) घरों का रक्षक है । (सायं सायम्) हर सायं को (सौमनसस्य) सुख-युक्त मन का (दाता) है । (वसोः-वसोः) सब धनों के (वसुदानः) ऐश्वर्य-प्रद (एधि) बनो । (त्वा) तुझे (इन्धानाः) अपने कर्मों से चमकाते हुए (शतं हिमाः) सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) बढ़ते रहें ॥ ४६ ॥

---

* प्रभु—भक्ति को हृदय-वेदी में प्रदीप्त करते हुए, उस के प्रकाश से हम अपनी व्याधियों को दूर करें । मूल में भावार्थ दिया है ।

† ऋषि आदि पूर्ववत् ।

*(२१) अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम् ।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये ॥ ५३ ॥—५॥

(दग्धान्नस्य) पके हुए तय्यार अन्न के सम्बन्ध में (अपश्चा) मैं पीछे रहने वाला न (भूयासम्) बनूं (अन्नादाय) अन्न के भक्षण करने वाले (अन्न-पतये) अन्न के स्वामी (रुद्राय) † रुद्र (अग्नये) अग्नि के लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ५ ॥

परमात्मा दिन रात हमारी सहायता करते रहते हैं । कौन सा आनन्द है जिस के लिए उन्हों ने सामग्री उत्पन्न नहीं कर रक्खी । प्रश्न होता है कि फिर क्यों हमें दुःख रहता है ? वेद का इस विषय में यही उपदेश सार है कि अपने आप को पुष्ट करो । रोगी को क्या पता कि भूख लगने पर सूखी मक्की की रोटी में भी क्या स्वाद होता है ? इस लिए उन नियमों पर आचरण करो, जिन के पालन से तुम्हारा बल बढ़े और अन्न पचाने की शक्ति उन्नत हो । निर्बलता पाप है । अपनी मूर्खता के कारण रोगी रहने वालों के प्रति सारी सुख-सामग्री पैदा करने वाला, प्रभु रुद्र-रूप धारण करता है । अतः यदि चाहते हो कि न दुःख

---

* ऋषि आदि पूर्ववत् । मन्त्र की समाप्ति यहीं है, या आगे कुछ और शब्द इसी में गिनने हैं, इस में सन्देह है ।

† रुद्र अग्नि का ही विशेषण है । यह किसी भिन्न देवता का नाम नहीं । एक प्रभु के ही अलग २ गुणों और स्वरूपों के आधार पर अलग २ नाम हैं । इन का परस्पर विशेषण बनना आर्य सिद्धान्त की पुष्टि करना है ।

देखना पड़े और न अपने मन्द दैव पर रोना पड़े, तो शारीरिक नींव को पक्का करो* ॥

(२२)† वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ॥ ५४ ॥
अथर्व० ॥ १६ । ६० । १ ॥

(मे) मेरे (आसन्) मुख में (वाक्) वाणी ठीक हो, (नसोः) नासों में (प्राणः) प्राण, (अक्ष्णोः) नेत्रों में (चक्षुः) दृष्टि, (कर्णयोः) कानों में (श्रोत्रम्) सुनने की शक्ति हो, (केशाः) बाल (अपलिताः) सुफेद न हों, (दन्ताः) दान्त (अशोणाः) नित्य रुधिर बहते रहने, मसूड़ों की खराबी के कारण, लाल न हों, (बाह्वोः) भुजाओं में (बहु) बहुत (बलम्) बल हो।

(२३) ‡ ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा-ऽरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ ५५ ॥ अथर्व० १६।६०।२॥

---

* चिरकाल से हिन्दुओं के अन्दर यह नींव कच्ची हो रही है। प्रतिदिन प्रत्येक नगर में यक्ष्मा (Pthisis) आदि रोगों से हम मर रहे हैं। वस्तुतः हमें खाना नहीं आता। इस विषय की ओर जाति के नेताओं को पूरा ध्यान देना चाहिए। और सब बातें अभी इस के पीछे कर देनी चाहियें।

† ब्रह्मन् ऋषि, वागादि देवता, पथ्या बृहती छन्दः।

‡ ऋषि आदि पूर्ववत्। छन्दः ककुम्मती पौरुष्णिग् । अवसान का चिन्ह प्रतिष्ठा से पूर्व छपा हुआ है। परन्तु दूसरों ने इसे ठीक नहीं समझा। विस्तार के लिए देखो ह्विटने का भाष्य और वहां उस का टिप्पण।

(ऊर्वोः) रानों में (ओजः) बल हो, (जङ्घयोः) जांघों में (जवः) वेग से युक्त चाल हो, (पादयोः) पैरों में (प्रतिष्ठा) अपने भार पर खड़े होने की शक्ति हो, (मे) मेरे (सर्वा) सब अंग (अरिष्टानि) स्वस्थ हों, (आत्मा) (अनिभृष्टः) सड़ा हुआ न हो।

(२४) * चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥ ५६ ॥ अथर्व ११ । ५ । २५ ॥

हे ब्रह्मन (अस्मासु) हमारी जाति में (चक्षुः) देखने और (श्रोत्रम्) सुनने की शक्ति को (यशः) यश को (अन्नम्) अन्न को (धेहि) बढ़ाओ (रेतः) वीर्य (लोहितम्) लहू (उदरम्) पाचन-शक्ति को भी।

इस प्रकार इन मन्त्रों को समझते हुए तुम्हें विश्वास होगया होगा कि वेद जिस जीवन को हमारे में देखना चाहता है, वह हम से कितना दूर हो चुका है।

मा०-महाराज! यह क्यों दूर हुआ?

सत्य०-अरे, कितनी वार तो सुन चुके हो, निराशावादी बौद्ध धर्म तथा नवीन वेदान्त के प्रचार ने ही यह सारी मिट्टी ख़राब की है।

मा०-भाई, तुम क्रोध न करो। मैं भी इस बात को समझता तो था। पर, महात्मा जी के मुख से उत्तर सुनकर अपनी पहिली मूर्खता को स्मरण करता हुआ कुछ पश्चात्ताप करना चाहता था। अच्छा, अब नहीं रोका करूंगा।

---

* ब्रह्म ऋषि, ब्रह्मचारी देवता, आर्ची उष्णिक् छन्दः।

महा०-सत्यकाम, बेटा ! तुम इस बेचारे को वृथा क्यों लताड़ते हो। नहीं, मायाराम, जो तुम्हें या और भी किसी को कभी पूछना हुआ करे, निःशंक होकर कह दिया करो। प्रियवर्ग, मैं आप से कह रहा था कि वेद के अन्दर जितना भी जाकर देखें, उत्साह से पूर्ण जीवन का ही चित्र दिखाई देता है। हम ने संसार में आनन्द से युक्त हो कर मोक्ष की तय्यारी करनी है। इसी सम्बन्ध में थोड़े से मन्त्र और भी सुनाता हूं॥

* (२५) अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्। अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥ ५७॥ ऋ० १। ११२। २४।

† (अश्विना) हे दिव्य वैद्यो, (अस्मे) हमारी (वाचम्) वाणी को (अप्नस्वतीम्) कर्म से युक्त (कृतम्) कर दो, (दस्रा) हे पाप दूर करने वालो (वृषणा) सुख बरसाने वालो, (नः) हमें (मनीषाम्) तीव्र बुद्धि (कृतम्) दो, (अद्यूत्ये) जुए से रहित (अवसे) रत्ता के लिए (वाम्) तुम्हें (निह्वये) बुलाता हूं। (वाजसातौ) संग्राम आदि बल की प्राप्ति के अवसर पर (नः) हमारी (वृधे) उन्नति में आप निमित्त (भवतम्) हों॥ ५४॥

* कुत्स आंगिरस ऋषि, अश्विनौ देवता, विराट् त्रिष्टुप् छन्दः।

† वेद में दो अश्वियों का अनेक स्थलों पर वर्णन मिलता है। रोगों को दूर करना उनका मुख्य गुण बताया है। भौतिक जगत् में सायं प्रातः के समय की शक्तियां, और राष्ट्र में उत्तम वैद्य और शल्य-चिकित्सक का ग्रहण करके यह अर्थ किये हैं।

* (५६) द्युभिरक्तुभिः परि पातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ५८ ॥

ऋग्० १ । ११२ । २५ ॥

(अश्विना) हे अश्वियो, (अस्मान्) हमें (द्युभिः) दिन तथा (अक्तुभिः) रात्रि में (अरिष्टेभिः) रोग-रहित (सौभगेभिः) ऐश्वर्यों द्वारा (परिपातम्) सब तरह से सुरक्षित बनाओ, (नः) हमारे (तत्) उस अभीष्ट को (मित्रः) मित्र (वरुणः) वरुण (अदितिः) अदिति (सिन्धुः) सिन्धु (पृथिवी) (उत) और (द्यौः) द्यु-लोक (मामहन्ताम्) बढ़ावें † ॥

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्। छन्दः त्रिष्टुप्।

† यह भिन्न २ शक्तियां हैं जिन के अन्दर प्रभु की महिमा का विस्तार हो रहा है। दूसरे शब्दों में प्रभु के भिन्न २ गुणों को अलग २ वर्णन किया गया है। जिन भौतिक पदार्थों में इन गुणों का प्रकाश हो रहा है, उन को भी देवता कहते हैं। 'मित्र' स्नेह करने वाले प्रभु के इस गुण-देवता का नाम है। जगत् में सूर्य के अन्दर यह भाव पाया जाता है। अतः भौतिक मित्र में आध्यात्मिक मित्र को देखना है।

जब हम कहते हैं कि मित्र आदि हमें बल दें, तो यह तात्पर्य होता है कि उन भौतिक चिह्नों से प्रकट होने वाला, उन पदार्थों के प्रकाश आदि गुणों का मूल-स्रोत, उन अनेक नामों का एक-रूप होता हुआ अनेक रूपों में विचरने वाला भगवान् ही हमें बल देवे। वरुण अस्त होने वाले, सारे पश्चिम में सुनहरी रंग को फैलाने वाली, सूर्य में प्रकट होती हुई विभूति का नाम है। यही वैदिक देवता-वाद का संक्षेप से वर्णन है।

हमारे वचन में शक्ति तब ही स्थिर रहेगी, जब उस के अनुसार कर्म ठीक होगा और उस की तह में मनन-शीलता से भूषित बुद्धि की शक्ति होगी। यही महापुरुषों का लक्षण है कि उन का मन, वचन और कर्म एक रेखा पर ही रहा करते हैं। बल हो, हम रक्षा करें और करावें, बढ़ें और बढ़ावें, पर जूए का बुरा स्वभाव न होना चाहिए।

जूआ आलस्यका मूल है और आलस्य पापका मूल है। पाप नाश कर देता है। सोमनाथ के मन्दिर में पुजारियों ने देवता से जूआ ही खेलना चाहा था, जब महमूद ने दूसरे प्रकार से यही उपदेश किया। हमें पुरुषार्थी बन कर सब शक्तियों को पैदा करने में सब की सहायता लेनी चाहिये। हमें ऐश्वर्य चाहिये। पर, वह स्वास्थ्य के बिगाड़ने वाला न हो। गद्दी पर बैठ २ कर पेट मोटा करना और बात है और उपयोगी, सफल, ऐश्वर्यवान् होना और बात है। इस स्वास्थ्य-लाभ तथा स्थिर-वृत्ति के उत्पन्न करने में प्रभु की सारी शक्तियां अपने स्वरूप तथा व्यापार से उपदेश करती हैं। सूर्य्य और चन्द्र, आकाश और समुद्र, पृथिवी और द्यौ—सब अपने २ नियम के पालन करने में अटल हैं। उन में पूरी शान्ति का जीवन है। क्या मनुष्य ही अपनी अशान्ति से आनन्द में विघ्न करता रहेगा?

* (५६) अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य देवानामूतिभिर्वयम्।
अरिष्यन्तः सचेमह्यभि ष्याम पृतन्यतः॥ ऋग० २।८।६॥

---

* गृत्समद ऋषिः, अग्निर्देवता, निचृदनुष्टुप् छन्दः।

(अग्नेः) अग्नि (इन्द्रस्य) इन्द्र (सोमस्य) सोम तथा (देवानाम्) दूसरी प्रभु की महिम-मयी शक्तियों की (ऊतिभिः) रक्षा तथा सहायता से (अरिष्यन्तः) रोगादि से मुक्त होते हुए (वयम्) हम (सचेमहि) मिले रहें* और (पृतन्यतः) जो हम पर चढ़ाई करने वाले रोग अथवा शत्रु आदि हैं, उन्हें (अभिष्याम) दबा सकें ॥

† (२७) मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ५९ ॥ ऋग्० ४ । ५७ । ३ ॥

(नः) हमारे लिए (ओषधीः) ओषधियां (द्यावः) प्रकाश की किरणें (आपः) जल (अन्तरिक्षम्) बीच का लोक=वायु आदि (मधुमतीः, मधुमत्) सुख लाने वाले (भवतु) हो, (हों) (क्षेत्रस्यपतिः) खेती की रक्षा करने वाला प्रभु (मधुमान्) सुख देने वाला (नः) हमारे लिए (अस्तु) हो, (अरिष्यन्तः) दुःख रहित होकर (एनम्) इसके (अनुचरेम) पीछे चलें ॥

सुख ही सुख की सामग्री सर्वत्र प्रभु ने फैलाई हुई है । अपनी मूर्खता के कारण हम इसे दुःख का हेतु बना लेते हैं ।

---

* व्यक्ति-गत जीवन में सब अंग ठीक हों, तब ही शरीर स्वस्थ रहता है। नहीं तो कभी किसी रूप में, कभी किसी रूप में, रोग दबा ही लेता है। समाज भी संगठन के बिना शत्रुओं की चालों को समझ कर उन्हें दबाने में असमर्थ ही होता है।

† वामदेव ऋषिः, क्षेत्रपति देवता, त्रिष्टुप् छन्दः ।

भगवान् हमें अन्न आदि ठीक रीति से देता है। हमें भी चाहिये कि शरीर आदि के ज्ञान को प्राप्त करें और परमेश्वर के आदेश के अनुसार अपना जीवन बनावें।

(२८) * विश्वे हि ष्मा मनवे विश्ववेदसो भुवन् वृधे रिशादसः। अरिष्टेभिःपायुभिर्विश्ववेदसो यन्ता नोऽवृकं छर्दिः ॥ ६० ॥

ऋग्० ८। २७। ४॥

(विश्ववेदसः) सब धनों के स्वामी (विश्वे) सारे (रिशादसः) शत्रुओं के नाश करने वाले (मनवे) मनु=मनुष्य के लिए (हि) निश्चय करके (वृधे) रक्षार्थ (भुवन् स्म)सहायक हों। (विश्ववेदसः) हे सब ऐश्वर्यों के स्वामी-वर्ग, (अरिष्टेभिः) रोग आदि रहित (पायुभिः) रक्षकों द्वारा (नः) हमारे (छर्दिः) घर की (यन्त) रक्षा करो, ताकि (अवृकम्) कोई शिकारी झपटा न मार सके।

जब तक हम में अपने घरों की रक्षा करने की सामर्थ्य न हो हम संसार में सुख-पूर्वक निवास नहीं कर सकते। इस लिए यदि मनुष्य चाहे कि जगत् में रहने का उसे अधिकार प्राप्त हो, तो उसे चाहिए कि जो प्रभु की विभूतियां हमारे कल्याण के लिए चारों ओर मौजूद हैं, सूर्य, अग्नि, जल आदि उन सब शक्तियों की सहायता से, बलवान् बने। अपनी और अपने ऊपर

* मनु वैवस्त ऋषिः, विश्वेदेवा देवता, छन्दः निचृत् पंक्तिः।

निर्भर रहने वाले, वन्धु वर्ग की रक्षा सदा करता रहे। झूठे त्याग और दयाभाव को त्याग दे।

*(२९) ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयन्त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम। मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाऽध्यक्षेण पृतना जयेम ॥ ६१ ॥ ऋ० १०। १२८। १ ॥

(अग्ने) हे अग्निस्वरूप प्रभो, (विहवेषु) जीवन के संग्रामों में (मम) मेरे अन्दर (वर्चः) चमक और तेज हो। (त्वा) तुम्हारी (इन्धानाः) ज्योति को जगाते हुए (वयम्) हम (तन्वम्) शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं (मह्यम्) मेरे आगे (नमन्ताम्) झुक जावें। (त्वया) आप (अध्यक्षेण) हमारे अध्यक्ष बनो, ताकि (पृतनाः) सर्व प्रकार के विरोधि-वर्ग को (जयेम) हम पराजित कर सकें ॥

(३०) मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः। ममांतरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामे अस्मिन् ॥ ६२ ॥ ॥—२॥

---

* ऋषिः आंगिरसः विहव्यः, विश्वेदेवा देवता, छन्दः त्रिष्टुप्। वैदिक समय में आर्य ब्रह्मचारी जब अपने अध्ययन को समाप्त करते थे, तो समावर्तन के समय इन दिए जाने वाले मन्त्रों से यज्ञ में समिधा डालते और मन में विचार-शक्ति का संचार करते थे। यह इन मंत्रों के जाप का ही प्रभाव था कि यह देश सारे भूमण्डल का नेता और गुरु बन रहा था। मन्त्रों में तो अब भी कोई अन्तर नहीं, हमारा ही दोष है।

(सर्वे) सारे (देवाः) देवता (विहवे) जीवन की जद्दोजहद में (मम) मेरे सहायक (सन्तु) हों। (इन्द्रवन्तः) प्रभु की ऐश्वर्य तथा पराक्रम धारण करने वाली शक्ति के साथ युक्त होकर (मरुतः) विद्या, विज्ञान में वायु के समान खुले विचरने वाले देवता मेरी सहायता करें*। (विष्णुः) अपनी किरणों से सर्वत्र फैला हुआ सूर्य्य (अग्निः) चर, अचर में जीवन की शक्ति देने वाला अग्नि मेरे सहायक हों । (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (मम) मेरे लिए (उरुलोकम्) विस्तार वाले दृश्यों से युक्त हो।

---

* यह देवता क्या हैं ? इस प्रश्न को ठीक प्रकार से समझ लेना चाहिए । पर-ब्रह्म सारे संसार का जीवन है । पर इतना सूक्ष्म है कि साधारण मनुष्यों को संसार में विचरते हुए कभी ही उस का अनुभव तो दूर रहा, ध्यान भी होता हो । परन्तु कई ऐसी सत्ताएं हैं, जो दूसरे पदार्थों की अपेक्षा चमक, प्रकाश, सौन्दर्य्य आदि महिमाओं में बढ़ी हुई हैं । हमारे जीवन के साथ इन शक्तियों का बड़ा घना संबंध है। अतः हम उन से प्रभावित होते हैं । यह देवता हैं । जड़ जगत् में सूर्य आदि, अपने निजी जीवन में मन तथा इन्द्रियां, समाज में विद्वान, संन्यासी आदि सब देवता हैं । इन सब के अन्दर ज्योति उसी परम तत्त्व की है । इन के संसर्ग से हम ने दो बातों को धारण करना है, (१) हमारी मूर्खता से इन के द्वारा हमें शारीरिक या मानसिक दुःख न हो। (२)प्रभु की महिमा का अनुभव पैदा हो । जब हम प्रार्थनाएं करते हैं, तो दो भाव पैदा होते हैं (१) प्रभु, जो इन प्रत्यक्ष देवताओं को इतना महान् बना रहा है, हमें भी तेजस्वी और महान् बनावे । (२) यह सब देवता प्रभु की चमक से चमकीले हो रहे हैं और हमारा कल्याण कर रहे हैं । हमें योग्य है कि इस महायज्ञ में दुर्बल हो कर, पापी हो कर, मूर्ख हो कर विघ्नकारक न बनें । यही लक्ष्य है, यही देवताओं की पूजा है, यही वैदिक जीवन का रहस्य है ॥

(अस्मिन्) इस (कामे) मनोरथ की सिद्धि में (मह्यम्) मेरे लिये (वातः) वायु भी सहायक होकर (पवताम्) बहे॥

(३१) मयि देवा द्रविणमायजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः। दैव्या होतारो वनुषंत पूर्वेऽरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः॥ ६३ ॥—३ ॥

(देवाः) देवता (मयि) मुझे (द्रविणम्) धन आदि पदार्थों को (आयजन्ताम्) प्रदान करें। (आशीः) शुभ कामना (मयि) मुझमें हो। (देवहूतिः) देवताओं की सहायता (मयि) मुझे मिले। जो (दैव्याः) दिव्य जीवन से युक्त तथा (होतारः) यज्ञादि पुण्य कर्मों के करने वाले (पूर्वे) सदा से होते चले आए हैं (वनुषन्त) वह सुख को प्राप्त होते रहे हैं, अतः हम भी (सुवीराः) योग्य कर्म में चतुर साथियों से युक्त होकर (तन्वा) शरीर आदि साधनों के विषय में (अरिष्टाः) पूर्ण (स्याम) होवें, ताकि हम भी आदर्श दिव्य जीवन को धारण करके परम आनन्द के भागी बनें।

प्यारे सज्जनो, इस तरह से वेद में अनेक मंत्रों में जीवन सम्बन्धी उपदेश पाया जाता है। मैंने आज तुम्हारे सामने नमूने के तौर पर कुछ प्रमाण रक्खे हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि इनका मनन करके तुम्हारे अन्दर नये उत्साह का संचार होगा। सत्यकाम! क्या समय हो गया है ?

सत्य०—महाराज, बहुत अवेरा नहीं हुआ। सायं की सन्ध्योपासना का समय हो गया है।

महा०—ओहो, मैंने आज पूरे दो घण्टे ले लिये। अच्छा

आओ, आज सब आर्य भाई मिलकर प्रभु की सेवा में अपने विनय को प्रकट करें।

महात्मा जी के वेद-मंत्रों के मधुर उच्चारण और सरल व्याख्यान से सब आये हुए सत्संगियों पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। सब ने अपने २ ढंग से उन का धन्यवाद किया और उन के आदेशानुसार हाथ मुंह धोने के लिए बाहर चले गए।

थोड़ी देर में जब सब ठीक तरह से शान्त और स्थिर हो कर आसन लगा चुके, तो महात्मा जी ने सत्यकाम से कहा कि इन दिनों में सन्ध्या के सब मंत्र तो तुम्हारे तय्यार हो गये हैं, तुम उन का उच्चारण करो और हम सब ध्यान से सुनेंगे। ज्योंही मंत्रों का उच्चारण समाप्त हुआ, महात्मा जी ने प्रार्थना आरंभ की।

'हे सर्व संसार के पालन करने वाले, सच्चे पितः, हम सब आप के बालक हैं। कृपा करो, हमारे अन्दर उन गुणों को धारण करो, जिन से कि हम आर्य-पुत्र कहलाने के योग्य हो जावें। हमारी बुद्धि निर्मल हो, हमारा मन शुद्ध हो। हमारा शरीर दृढ़ हो। हमारा आपस में प्रेम और सहानुभूति का भाव हो। हम सदा आपके नियमों का पालन करते रहें। भगवन, आप ही हमारे छिद्रों को ठीक २ जानते हो। आप ही हमारी सहायता करो। हम आप की दया से आर्य जीवन के पवित्र लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सदा तत्पर रहें। महाराज, यही हम याचना करते हैं, कृपा करो और हमारी इस भावना को स्वीकार करो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इस प्रकार परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके सब अपने २ स्थानों को चले गए। आज के विषय ने कई नये वेद-भक्त पैदा किए॥

इति शरीर-सन्देशे प्रथम उच्छ्वासो।

वेद-सन्देशे चतुर्थश्च पूर्णः॥

द्वितीय उल्लासः

ब्रह्मचर्य की महिमा ।

समय कुछ अधिक हो रहा था । यद्यपि श्रोता आये हुए थे पर, महात्मा जी अभी किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे । इतने में सामने से मायाराम तथा वस्तुस्वरूप आगये । महात्मा जी ने मुसकराते हुए पूछा ।

महा०—क्यों जी, आज विलम्ब कैसे हुआ ?

वस्तु०—महाराज, क्या बतावें । आते २ मार्ग में शास्त्रार्थ छिड़ गया और उस में देर लग गयी ।

सत्य०—शास्त्रार्थ !! किस से ?

मा०—अजी, कुछ नहीं । कौन सा बड़ा शास्त्रार्थ था । कुछ आदमी इकट्ठे हो रहे थे और एक पादरी उन्हें कुछ सुना रहा था । अपने मत में श्रद्धा पैदा करने के लिए वह वेद आदि की निन्दा कर रहा था । हमसे न रहा जा सका और बस छिड़ गई ।

सत्य०—फिर ?

वस्तु०—फिर क्या ? मैदान छोड़कर वह चला गया । लोगों में बड़ी चर्चा होने लगी । बड़ी कठिनता से पल्ला छुड़ा कर आना हो सका है ।

महा०—क्या वह पादरी वेद के विषय में कुछ ले गया ?

वस्तु०—महाराज ! क्या पता उसने तो भागने की की ।

महा०—इसी लिए तो आज कल वस्तुतः धर्म प्रचार नहीं हो रहा । अपना २ गाल भरने की सब सम्प्रदायों को चिन्ता लगी

हुई है। पर, संसार का कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि तप और त्याग की कमाई करते हुए सत्य धर्म के उपदेश को सुनने के लिए स्वयं उत्सुक नहीं हो जाते। सदा अपने जीवन से दूसरों पर स्थिर प्रभाव पैदा करने का यत्न करना चाहिए। बुद्धि की लड़ाई और है और हृदय में श्रद्धा पैदा हो जाना और है। एक से हठ पैदा होता है, दूसरी से दिल पसीज जाता है और मनुष्य सत्य ग्रहण करने का अभिलाषी बन जाता है।

मा०-महाराज, आप के उपदेशों को सुन कर जहां अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ गए हैं, वहां अब इन व्यावहारिक घुण्डियों को भी शनैः २ समझ ही जावेंगे।

महा०-तो आओ, आज के कथन का विषय बड़े महत्त्व से पूर्ण है। उसे सुनकर वैदिक धर्म में तुम्हारी निष्ठा और भी बढ़ जानी चाहिए।

सत्य०-महाराज, आप के कल के उपदेश पर विचारते २ यह विचार उत्पन्न हुआ कि आप से इसी विषय के दूसरे भाग को भी सुनें। शरीर हमारी सारी क्रियाओं में मुख्य साधन है। महाराज, वेद इस की रक्षा का कौन सा उपाय बताता है?

महा०-बहुत ठीक। मेरे मन में भी यही संकल्प था। हमें उन नियमों का पालन करना सीखना चाहिए, जिन पर आचरण करने से वैद्य को बुलाना न पड़े। इन्द्रियों को जीत कर, आलस्य को त्याग कर, भोजन तथा रहन सहन को सरल तथा गर्मी,

सरदी आदि प्राकृतिक नियमों के अनुकूल बनाये रखना, समय पर सोना समय पर जागना, दुर्व्यसनों से बचना और ऊंचे विचारों से पूर्ण रहना–यह सीधी सी बातें हैं, जिन्हें धारण करके मनुष्य पूर्ण आयु भोगता और नीरोग रहता है। इस नियम-बद्ध जीवन का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। केवल विद्यार्थी अवस्था में नहीं, वरन् जीवन भर इन नियमों पर थोड़े बहुत अन्तर के साथ आचरण करते हुए, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यस्त अर्थात् सभी नर नारी ब्रह्मचारी कहला सकते हैं। उन्हें उप-र्युक्त फल प्राप्त होंगे। ब्रह्मचर्य का सार यह नियम हैं। शेष प्रसिद्ध बातें, सख्त वस्त्र पहनना आदि तपश्चर्या की सिद्धि में साधन हैं।

मा०–महाराज, लोग तो इन्हें ही ब्रह्मचर्य का सार समझते हैं। जीवन का तो कुछ विचार ही नहीं करते।

महा०–यह ठीक नहीं है मुख्य और गौण में विवेक न करने से मनुष्य गिर जाता है। मुख्य को सम्भाला हुआ हो, तो गौण भी लक्ष्य के बींधने में सहायता करता है। परन्तु जब असली वस्तु हाथ से निकल जाए, तो गौण बातों को करना ऐसा ही व्यर्थ है, जैसे निर्जीव, मृतक देह का हार शृंगार।

सत्य०–महाराज, हमारी तो बड़ी मन्द-भाग्यता है। हर बात में हम ने असल को खोकर नकली खिलोनों से खेलना ही अपना काम बना लिया है। एक बहुरूपिया, पीताम्बर पहने हुए लकड़ी की खड़ाऊं पर चलता हुआ आ जाता है, और सब 'ब्रह्मचारी जी महाराज' कहकर उसका मान करते हैं। वह

ठग उसी पहरावे की आड़ में क्या २ नहीं कर गुज़रता, यह आप के सम्मुख वर्णन करने का भी साहस नहीं कर सकता।

महा०—वेद प्रचार ही इन सब रोगों की एक मात्र औषध है। प्यारो, तुम्हें यह सुनकर प्रसन्नता और आश्चर्य होगा कि इस परम तत्त्व का महत्त्व जितना वेद में पाया जाता है, उतना और किसी भी धर्म ग्रन्थ में नहीं मिलता। यह वह सचाई है, जो किसी युग में भी निस्तेज नहीं हो सकती। यह वह उपदेश है जो आज संसार के मस्तकमणि-रूप, बढ़े चढ़े हुए विचारक, मनुष्य के सामने रखना चाहते हैं। यह वह रत्न है, जिसे ठीकर धारण करना हमने अभी दूसरी वार सीखना है।

वस्तु०—महाराज, इस हिसाब से तो जिस विकासवाद की आज इतनी चर्चा हैं, वह भी हिल जाएगा।

महा०—प्यारे, तू ही समझ। वेद में इस जीवन के रहस्य, ब्रह्मचर्य का सुन्दर वर्णन तथा अन्य बातों का होना, विकास-वाद को बेढंगे फैलाव से अवश्य रोकता है। यह वेद की शिक्षाओं का महत्त्व ही था, जो प्राचीनकाल में सब ऋषियों और मुनियों को इस के चरणों में झुकाए हुए था। सहस्रों वर्षों के पीछे, फिर आजीवन ब्रह्मचारी, यतीन्द्र दयानन्द ने सूर्य की भांति चमक कर पुनः वेद के गौरव-युक्त सन्देश को सुना कर बड़ा उपकार किया है। सुनो, वेद ब्रह्मचर्य के गुणों तथा स्वरूप को किस सुन्दरता से वर्णन करता है।

* (१) ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः

---

* अथर्व ॥ ११ । ५ ॥ ऋषि ब्रह्मा, ब्रह्मचारी देवता, छन्दः त्रिष्टुप्, कहीं २

सम्मनसो भवंति । स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति ॥ ६४ ॥ १ ॥

(ब्रह्मचारी) (उभे) दोनों (रोदसी) भूमी और आकाश को (इष्णान्) हिलाता हुआ (चरति) विचरता है, (तस्मिन्) उस के जीवन में (देवाः) देवता (संमनसः) अनुकूल मन-वाले (भवंति) होते हैं। (सः) वह (पृथिवीं) पृथिवी (च) और (दिवम्) द्यु-लोक को (दाधार) धारण किए हुए है। (सः) वह (तपसा) नियम-पूर्वक जीवन-चर्य्या द्वारा (आचार्यम्) अपने गुरु को (पिपर्त्ति) पूर्ण, पुष्ट तथा सन्तुष्ट करता है।

अभी आप से मैं भौतिक जगत् के प्रभाव का वर्णन कर चुका हूं। ब्रह्मचर्य के प्रताप से मनुष्य अपने जीवन में इन दिव्य शक्तियों के प्रभाव को अनुभव करता है। सारे तत्त्वों तथा प्रकाशमान पदार्थों से वह स्थिर अंश को लेकर अपने अन्दर धारण करता है। ब्रह्मचारी अपने बल से संसार को हिलाता है। चारों ओर प्रेरणा करता है। लोगों के आलस्य आदि बुरे भावों को दूर करता है। सच पूछो तो यह सूर्य भी ब्रह्मचारी का ही एक चित्र है। नित्य समय पर उदय और अस्त होता हुआ सदा अपने कर्त्तव्य का पालन करता है।

मिश्रित छन्द भी हैं। इस सूक्त के विषय का महत्त्व गोपथ ब्राह्मण ॥ १ । २ ॥ के आरम्भ में देखो। प्रायः वेद पर लिखने वालों में से सभी ने इस सूक्त पर अवश्य लिखा है। ब्लूमफील्ड के विचार से सूर्य्य का ही यहां वर्णन है, परन्तु आर्यावर्त्त के पुराने से पुराने भाष्यों में ब्रह्मचर्य ही मुख्य विषय है। पश्चिमी कल्पना का यह एक और उदाहरण है।

आचार्य की पूर्णता का परिणाम उस के ब्रह्मचारियों के पवित्र जीवन और उच्च विचार हैं। जितना अधिक वह तप करते हैं, उतनी ही अधिक उनके गुरु की सफलता तथा कीर्त्ति होती है।

(२) ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनु संयन्ति सर्वे। गंधर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ ६५ ॥ —२ ॥

(सर्वे) सब (पृथग्) अलग २ (पितरः) पितर (देवजनाः) देव-जन (देवाः) देव (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी के (अनुसंयन्ति) पीछे २ चलते हैं। (गन्धर्वाः) गन्धर्व (एनम्) इसी का (अनु-आयन्) अनुगमन करते हैं। (त्रयः-त्रिंशत् त्रि-शता-षट्ः-सहस्राः) छः हज़ार तीन सौ तैंतीस (सर्वान्) सब (देवान्) देवों को (सः) वह, ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तप से (पिपर्ति) पुष्ट करता है * ॥

---

* इस मन्त्र का विस्तारपूर्वक अर्थ अभी तक नहीं खुला। स्वामी दयानन्द जी साधारणतया पितर आदि शब्दों को 'विद्वान्' अर्थ में लेते हैं। भौतिक जगत् में यह प्रकाश-किरण आदि अर्थों में लिये गये हैं। संख्या से तात्पर्य गिनती दिखाना अभिप्रेत नहीं, वरन अनन्त विस्तार तथा भिन्नता की ओर संकेत हो सकता है। सायण इसी प्रकार लेता है। ब्रह्मचर्य की यह महिमा है कि भान्ति २ के विद्वान् तथा भौतिक शक्तियां उस के प्रताप से जगत् में विस्तार तथा प्रकाश को प्राप्त होती हैं। कहीं यह भी यत्न किया गया है कि पितर आदि शब्दों से चार वर्ण अभिप्रेत हैं। पर उस की पुष्टि करना अत्यन्त कठिन है। साधारण अर्थ ही से सन्तोष करते हुए यह समझना चाहिए कि संसार में जहां २ तेज, प्रकाश और महिमा पायी जाती है, वहां

(३) आचार्य्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भ-मंतः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ६६ ॥ –३ ॥

(आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (उपनय-मानः) उपनयन द्वारा स्वीकार करता हुआ, * उसे (अन्तः) अपने अन्दर (गर्भम्) गर्भ के समान (कृणुते) धारण करता है और (तं) उसे (तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात पर्यन्त (उदरे) उदर में (बिभर्ति) पुष्ट करता है, जब (तं) वह (जातम्) बाहिर प्रकट होता है, तो उसे (द्रष्टुम्) देखने के लिए (देवाः) देवता (अभिसंयन्ति) सामने उपस्थित होते हैं † ॥

ब्रह्मचर्य्य का ही प्रकाश समझो। इनकी संख्या का विस्तार नहीं हो सकता। तीन कहो, तेंतीस कहो, तीन सौ कहो और सहस्रों कहो। पर, यह निश्चय रक्खो कि जो कुछ भी इस कोटि का तेज जगत् में है, ब्रह्मचारी उसे धारण करके उस की शोभा को बढ़ा देता है, जैसे सुन्दर आकार पर वस्त्र, आभूषण आदि की शोभा बढ़ जाती है ॥

* उपनयन संस्कार की प्रथा वैदिक है।

† गुरु का तीन रात्रि अपने अन्दर धारण करने से तात्पर्य क्या है? भिन्न २ कल्पनाएं हैं। १–तीन दिन तक यज्ञोपवीत संस्कार से पूर्व विशेष शौच आचार की शिक्षा। २–तीन प्रकार के अज्ञानों को दूर करने का समय ३–तीन प्रकार की विद्या (वेद-त्रयी) के धारण करने का समय। जब दूसरा जन्म हो जाता है, तो ब्रह्मचारी की शोभा को सब देवता देखना चाहते हैं। गुरु के विशेष संबंध तथा इन भावों के लिये कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

जब तक आचार्य उक्त प्रकार का समीप-वर्त्ती संबन्ध नहीं पैदा करता, ब्रह्मचारी वस्तुतः तय्यार ही नहीं हो सकता। प्राचीन शिक्षा-क्रम में यही विशेषता प्रतीत होती है कि गुरु शिष्य के सामने अपना अन्दर खोलकर रख देता है और शिष्य भी उस से कोई बात छिपा रखनी बुरी समझता है। यह भाव वर्तमान क्रम में नहीं है।

(४) इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ६७ ॥ –४ ॥

(ब्रह्मचारी) जब नित्य अग्नि-होत्र करता हुआ प्रथम (समित्) समिधा को अग्नि में डाले, तो यह विचार करे कि (इयं) यह (पृथिवी) मेरे यश के विस्तार के लिये मेरे सामने है। (द्वितीया) दूसरी समिधा डाले, तो विचार करे कि (द्यौः) मेरे विस्तार का क्षेत्र है (उत) और तीसरी (समिधा) समिधा से (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती लोक को (पृणाति) सुरक्षित रखता है। इस प्रकार (समिधा) नित्य अग्निहोत्र, (मेखलया) इन्द्रिय-संयम (श्रमेण) परिश्रम के स्वभाव तथा (तपसा) तप द्वारा (सर्वान्) सब (लोकान्) लोकों का (पिपर्ति) पालन करता है॥

प्यारे सज्जनो, आप से मैंने कल ही कदाचित् बतलाया

"स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव माता-पितरौ जनयतः" आपस्तंब धर्मसूत्र १।१।१५-१७ ॥ देखो आश्वलायन गृह्य सूत्र १।२०।२। तथा आगे ॥ मनुस्मृति, २।६९, १४४, १७० ॥

था कि तीनों लोकों में तीन गुण मुख्य पाये जाते हैं । उन को स्मरण करते हुए देखो, ब्रह्मचारी के सामने क्या आदर्श रक्खा जा रहा है। आप ने आर्य्य समाज में हवन होते देखा ही होगा। क्यों, मायाराम, तुम्हारे आकार से आर्यसमाज के प्रति कुछ कोरापन दिखाई दिया है ?

मा०—महाराज, मैंने अब तक यह निश्चय किया हुआ था कि यह 'आर्य' खाने पीने वाले बाबू लोग ही होते हैं। पर, आज आप के मुख से यह सुन कर मैं कुछ हैरान सा हो रहा हूं। क्या यह लोग भी हवन करते हैं ?

सत्य०—वाह जी वाह ! यदि आर्य हवन न करते, तो आज, जब घृत खाने को भी नहीं मिलता, हवन संसार से उठ ही गया होता।

महा०—प्यारे, आर्य लोग नास्तिक नहीं हैं । तुम्हें दूसरे भ्रमों की भान्ति यह भी दूर कर देना चाहिए। यह लोग सच्चे ईश्वर के भक्त होते हैं। वेद के बड़े भक्त और वैदिक सभ्यता के उद्धार के लिए बड़े यत्नशील होते हैं। मैं तुम्हें कहना चाहता हूं कि आर्य समाज के प्रवर्त्तक, स्वामी दयानन्द जी के जीवन-चरित्र तथा ग्रन्थों को अवश्य पढ़ो। तुम्हारे नेत्र खुल जावेंगे । अस्तु, हवन करते समय आरम्भ में समिदाधान किया जाता है। तीन समिधाएं क्या हैं ? मूर्खों के लिए लकड़ी के टुकड़े हैं । पर, ब्रह्मचारी को चाहिए कि पहिली समिधा डाले तो यह भावना करे कि जैसे पृथिवी में धारण करने का गुण प्रकाशित होता है, ऐसे ही मुझ में भी हो। जब दूसरी डाले तो द्यु-लोक

के समान प्रकाश-गुण से युक्त होने की इच्छा करे। जब तीसरी डाले, तो मध्यलोक के गति-गुण की रक्षा करने का संकल्प पैदा करे। इस प्रकार नित्य दोनों समय समिधाओं के रूप में आत्म-समिधा को जगावे। पूर्व मन्त्रों में अभी आप ने सुना था कि ब्रह्मचारी सब लोकों को धारण करता है। उसका अभिप्राय यही था। मनुष्य के लिए उन लोकों की स्थिति तब ही वास्तव में लाभदायक है, जब वह उन के गुणों को अपने जीवन का भाग बना ले और यह कार्य तब ही ठीक २ हो सकता है, जब वह ब्रह्मचर्य की भट्ठी में से निकल रहा होता है। ज्यों २ वह मन्त्र के दूसरे भाग में कहे हुए गुणों के साथ उस समिधा * रूप अर्थात् प्रकाशमय जीवन को धारण करता चला जाता है, उस में सब संसार की पालना करने की शक्ति बढ़ती चली जाती है। वह तीन गुण हैं (१) मेखला=अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, इसी में उसकी सफलता का मर्म गुप्त है (२) श्रम=पुरुषार्थी होना, आलस्य रहित होना (३) तप, सत्यादि नियमों के पालन करने में आने वाली कठिनाइयों और प्रलोभनों को कुचल सकना। यही

---

* समिध् शब्द का धात्वर्थ ही यह है। 'सम्यक् इध्यते दीप्यते प्रकाश्यते ऽनया इति समित्' अर्थात् भौतिक अग्नि के जलाने के लिए काष्ठमयी, आत्मिक अग्नि के जलाने के लिए; अविद्या दूर करने वाली ज्ञानमयी समिधा हो सकती है। भौतिक हवन आत्मिक हवन के साथ मिल कर मोक्ष दिलाने वाला हो सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्मचारी को परा और अपरा दोनों विद्याओं की प्रक्रिया के समझने के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश होना चाहिए।

दोनों पहिली बात की सिद्धि में उचित साधन हैं। जो मनुष्य विद्यार्थी की अवस्था में इन शुद्ध भावों को धारण कर लेता है, वह रोग, बुढ़ापे और मृत्यु की पकड़ में किसी बहाने से ही आता है॥

(५) पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ६८॥—५॥

सारे कल्याण का मूल ब्रह्मचारी ही (पूर्वः) सब से मुख्य और आगे (ब्रह्मणः) ब्रह्म से (जातः) उत्पन्न हुआ। (घर्मम्) जीवन की उष्णता को (वसानः) धारण करता हुआ (तपसा) अपने तप से (उत्-अतिष्ठत्) ऊपर उठता है। (तस्मात्) उस से फिर (ब्राह्मणम्) ब्रह्म का प्रकाश करने वाला (ज्येष्ठम्) बड़ा (ब्रह्म) वेद प्रकाशित होता है। (देवाः) और देवता (अमृतेन) अमृत के (साकम्) साथ प्रकट होते हैं॥

जब जगत् में सच्चे ब्रह्मचारी पैदा होते हैं, तभी उनके उत्साह-मय जीवन के प्रभाव से प्रभु की कीर्त्ति फैलती है और प्रभु का वर्णन करने वाले वेद का प्रचार होता है। वेद के प्रचार का यह फल होता है कि मृत्यु के स्वरूप को समझ कर, अपनी अमरता के अनुभव करने वाले विद्वान् प्रकट होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य ही के साहाय्य से वेदप्रचार भी ठीक रीति से हो सकता है।

(६) ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो

दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६९ ॥ –६ ॥

देखो, ब्रह्मचारी (एति) आता है (समिधा) द्वारा (समिद्धः) प्रकाशित हुआ २ (कार्ष्णम्) कृष्ण चर्म या अन्य काले कंबल आदि को (वसानः) धारण किए हुए, (दीक्षितः) आर्य जीवन की नियम-चर्या में अधिकार पाए हुए, (दीर्घश्मश्रुः) मुंह पर बड़े २ बालों वाला (सः) वह (सद्यः) आन की आन में (पूर्वस्मात्) पूर्व से (उत्तरं समुद्रम्) उत्तर समुद्र तक* (एति) पहुंच जाता है, (लोकान्) लोकों को (संगृभ्य) इकट्ठा करके (मुहुः) वार २ (आ-चरिक्रत्) सामने लाता है।

पूर्व मन्त्रों में आप ने सुना था कि ब्रह्मचारी को अग्निहोत्र

---

* इन शब्दों को देख कर ह्विटने महाशय बड़े चकित होते हैं । उनके विचार के अनुसार तो उत्तरीय समुद्र और पूर्व समुद्र का वेद में वर्णन होना असम्भव है। पर करें तो क्या करें। एक ही मार्ग है। पहिले वेद जैसे हम पढ़ रहे हैं, वह भी पढ़ें । विकासवाद तथा अपनी सभ्यता और प्राचीन असभ्यता आदि के सारे विचारों को छोड़ दें। जहां घुण्डी न खुले, वहां अनुभवी भारतवासी, ऋषियों की सहायता ले लिया करें। फिर पूर्ण आशा है कि न केवल वेद का अर्थ ठीक २ खुलने लगेगा, वरन उनको अपने जीवन में भी बहुत अन्तर दिखाई देगा। पर यह उन के लिये करना कठिन है । इस का एक ही उपाय है और वह भारतवर्ष की सर्व प्रकार की स्वतन्त्रता है। उस के सिद्ध होजाने पर हमारे शब्द के गौरव को संसार मानेगा, उस से पूर्व नहीं। उसके लिये यत्न करना और यह सुनाए चले जाना प्रत्येक आर्य का कार्य है । पूर्व समुद्र ब्रह्मचर्य तथा उत्तर गृहस्थ जीवन पर भी लगाया गया है। यह अर्थ भी संगत तथा सुन्दर है।

इस भाव से करना चाहिए कि मुझ में प्रकाश पैदा हो। इस में उसके जीवन का वह चित्र दिखाया है, जिस के बिना उक्त प्रयोजन कभी सिद्ध नहीं हो सकता। रहन सहन सादा हो। वस्त्र साधारण, मोटे हों, भड़कदार न हों। प्रतिदिन दाढ़ी और मूछों को भिन्न २ प्रकार से मुंडा २ कर स्वांग बनाने की ही चिन्ता न लगी रहे। उसका मन शरीर की शुद्धि तथा शक्ति के बढ़ाने में खूब लगा हो, पर सजावट में नहीं। इस का फल यह होगा कि जूंही वह इस प्रथम विभाग को समाप्त करके जीवन के दूसरे विभाग में पग धरेगा, सारी ऋद्धियां और सिद्धियां उसका चरण-चुम्बन करेंगी। उसकी कीर्त्ति संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल जावेगी और सारे लोक लोकान्तरों को वह अपने विचार के अनुसार अपने आगे २ चला सकेगा। नेता बनने को किस का जी नहीं चाहता? पर, वैदिक धर्म का नेता बनना कुछ अर्थ रखता है। प्यारे मायाराम! आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के पवित्र जीवन से जाकर पूछो कि इस अत्यन्त कठिन मन्त्र का आशय क्या है। मन्त्र के शब्द बड़े साधारण हैं, पर यौवन-काल में सब वासनाओं को मारकर इनपर चलना किसी २ का ही काम है। पर जो इस मार्ग पर कुछ पग धर जाता है, संसार उसे चिर तक अपना गुरु मानता चला जाता है।

वस्तु०-महाराज! हम ने तो सारी आयु यूंही खो दी। क्या वेद ऐसा ही था?

महा०-हां, प्यारो, वेद की महिमा बड़ी निराली है। पर,

शोक है तो यह है कि आप लोगों के मध्य में वेद के स्वाध्याय करने वाले, अनुभवी, विद्वानों की बड़ी कमी है। इसे शीघ्र पूरा करो। जो हुआ सो हुआ। जो कुछ अब सुन रहे हो, इन बातों को जितना धारण कर सकते हो, करो और वेद के पढ़ने, पढ़ाने और सुनने सुनाने में शेष आयु को लगाकर सच्ची कमाई कर चलो।

सत्य०-महारज, क्या सूक्त समाप्त हो गया ?

महा०-नहीं, अभी तो तीन भाग और पड़े हैं। तुम सुनने वाले बनो। यह तो प्रसंग-वश बात चल पड़ी थी। सुनो,

(७) ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्। गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ ७० ॥ -७ ॥

(ब्रह्मचारी) (अमृतस्य) अमृत के (योनौ) जन्म-स्थान के अन्दर (गर्भः, भूत्वा) गर्भरूप होकर, (ब्रह्म) वेदादि शास्त्रों, (अपः) * जलवत् प्रवाह रूप से बहने वाले कर्म (लोकम्)

* वेद के शब्दों का भौतिक और आत्मिक विस्तार अनेक स्थलों पर सम्भव है। ब्रह्मचर्य की महिमा गाते हुए वेद हमारे सामने आगे चल कर सारे संसार में इस के विस्तार को बतलाएगा। यहां पर भी भौतिक ब्रह्मचर्य की ओर संकेत है। जहां यह दोनों अर्थ संगत करने होते हैं, वेद कोई ऐसा शब्द वर्तता है, जो दोनों ओर संगत हो सके। यहां पर वह शब्द 'अपः' है। यह आप् (=जल) का द्वितीया का बहुवचन है। सूर्य्य दिन रात प्रकाश करता है। उस के प्रचण्ड ताप से सारे संसार में जीवन पैदा हो रहा है। यह उस

सब प्राणियों के कर्म के साक्षी (प्रजापतिम्) सब प्रजाओं के

का ही प्रभाव है कि बादल बनते और वर्षाएं होती हैं। जब बादल घटाटोप छा जाते हैं, उस समय सूर्य अमृत=जल को योनि=अन्तरिक्ष में गर्भ की तरह तिरोहित हो जाता है। थोड़ी देर के पीछे बिजली कड़कने लगती है और मेघ टूट २ कर बरसने लग जाते हैं। इन्द्र=बिजली भी, मानो, तेजोमय सूर्य का ही रूपान्तर है। ब्रह्मचर्य भी तेजोमय होता है। इस भौतिक वर्णन से अब मनुष्य के ब्रह्मचर्य का प्रकरण चल पड़ता है। 'अपः' का मूल अर्थ केवल जल क्यों कहें ? जल इस लिए अर्थ करते हैं कि उस में बहने का तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचने का गुण पाया जाता है। व्याकरण-शास्त्री इस शब्द का आप् धातु से संबंध जोड़ते हैं। हमारा कर्म भी अनादि-प्रवाह के रूप में बहता चला आ रहा है। ब्रह्मचारी इस की महिमा को प्रकट करता है। कर्म दो प्रकार का है (१) अपः (एकवचन) कारीगरी, तत्काल किया हुआ कार्य (२) अपः (बहुवचन) प्रवाह-कर्म।

पश्चिमी विद्वानों ने केवल जल का ही अर्थ लिया है, अतः वह अधूरा है। हमारे अपने अनुवादकों ने कर्म के अर्थ में उपर्युक्त प्रथम विभाग लिया है, यह स्वर के ठीक संगत न हो सकने से कठिन है। सायण ब्रह्म=ब्राह्मण करता है। इस का भी मंत्र के प्रथम अर्थ में कोई प्रकरण नहीं। परमेष्ठी आदि शब्दों से वह अपनी मनमानी वेदान्त की पहेलियों को सिद्ध करना चाहता है। हमारे एक लेखक इन्द्र शब्द की विचित्र व्युत्पत्ति देते हैं। इन्=शत्रुः द्र=भगाने वाला। जहां तक हमें पता है इस का प्रमाण प्राचीन व्याकरण या निरुक्त में तो नहीं पाया जाता। इस मंत्रके अर्थों पर विचार करने से एक और बात भी निश्चित हो रही है। असुरों को ठीक करने के लिये परमात्मा को अवतार धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं। ब्रह्मचारी ही यह काम अच्छी तरह से निबाह सकते हैं।

पालक (परमेष्ठिनम्) अपने प्रकृष्ट, आनन्द स्वरूप में रहने वाले (विराजम्) सदा प्रकाशमान प्रभु को (जनयन्) प्रकट करते हुए (इन्द्रः) सब ऐश्वर्यों का स्वामी (भूत्वा) बनकर (ह) निश्चय करके (असुरान्) असुरों का (ततर्ह) नाश करता है ॥

इन्द्र बनने के लिए पराक्रम की आवश्यकता है। वीर ही असुरों को हनन करके न्याय को स्थापित करते हैं। वह अपने जीवन की उज्ज्वल ज्योति से वेद का जगत् में प्रकाश करते हैं। वही अपने चमकते हुए कर्मों से कर्म के प्रभाव को हृदयों पर अंकित करते हैं। उन के सन्तोष तथा नित्य परिश्रम-शीलता और प्रभु-भक्ति से लोग प्रभु के भक्त बनते हैं। वह सच्चे नेता हैं ॥

(८) आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गंभीरे पृथिवीं दिवं च। ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥ ७१ ॥ –८ ॥

आचार्य (इमे) इन (उभे) दोनों (नभसी) ढकनों के समान (उर्वी) विस्तृत (गंभीरे) गंभीर पृथिवी और द्यु-लोक को (ततक्ष) ब्रह्मचारी के सामने तराश के रख देता है। उन के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वह (ते) उन की तप से रक्षा करता है। इस का परिणाम यह होता है। कि (तस्मिन्) उस के अन्दर (देवाः) सब देवता (संमनसः) अनुकूलता से युक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ॥

आचार्य के विस्तृत ज्ञान की महिमा भी वेद ही ठीक २

बताता है। रात्रि को आंख उठाकर देखा करो। संसार कितना विस्तृत है और कितना थोड़ा हमें इस विषय में ज्ञान है, यह तुम्हें पता लग जावेगा। पर, आचार्य इन बातों को सुन्दर आकारों में अपने ब्रह्मचारी के सामने प्रत्यक्ष खड़ा कर देता है। उस ज्ञान की रक्षा पूर्ण तप और नियम आदि के पालन से ही हो सकती है।

(९) इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च। ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ७२ ॥ –९ ॥

इस प्रकार (प्रथमः) पूर्ण उत्साह से युक्त (ब्रह्मचारी) अपने गुरु की सेवा करता हुआ (पृथिवीं) विस्तृत (भूमिम्) भूमि (च) और (दिवम्) द्युलोक को, (तयोः=ययोः) जिन के अन्दर (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोक (आ–अर्पिता) चारों ओर समाये हुए हैं, (भिक्षाम्) भिक्षा के रूप में (आ जभार) प्राप्त करता है। इस के पश्चात् (ते) उन्हें (समिधौ कृत्वा) अपने प्रकाश की साधन-रूप समिधाएं बना कर हरि-भक्ति में (उपास्ते) लग जाता है॥

ब्रह्मचारी भिक्षु है और आचार्य दाता है। उस से वह सारे संसार का ज्ञान लाभ करता है। पर, ज्ञान का अन्त प्रभु-भक्ति ही है। यदि वस्तुतः पृथिवी और द्यु-लोक के अन्दर वर्त्तमान सारे पदार्थों का बोध हमें आत्म-विस्तार से शून्य रखता है, तो वह हमें बहुत महंगा पड़ा है। शुष्क ज्ञान से अभिमान पैदा होता है और उस से मनुष्य नष्ट हो जाता है। अतः प्रभु के भक्ति-

रस से रसित होकर जीवन के परम लक्ष्य के पाने के लिए ही ब्रह्मचर्य का अभ्यास करना उचित है । पृथिवी और द्यु-लोक किस तरह हमारे आत्म-यज्ञ में समिधाओं का काम देते हैं, यह थोड़ी देर हुई, समझा चुका हूं ।

(१०) अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठात् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य । तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥ ७३ ॥ –१० ॥

(ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण अर्थात् वेद-विद्या के ज्ञाता के (निधी) दो कोष (गुहा) बुद्धि की कन्दरा में (निहितौ) स्थापित होते हैं । उन में से (अन्यः) एक (अर्वाग्) समीपवर्ती होता है और (अन्यः) दूसरा (दिवः–पृष्ठात् परः) द्यु-तल से परे के साथ सम्बन्ध रखता है। (तौ) उनकी (ब्रह्मचारी) (तपसा) तप से (रक्षति) रक्षा करता है, पर (तत्) ऐसा कार्य (केवलम्) केवल (ब्रह्म) को (विद्वान्) जानने वाला ही (कृणुते) कर पाता है । जो ब्रह्म=वेद का मनन नहीं करता, वह इन कोषों की रखवाली नहीं कर सकता ।

आचार्य सच्चा ब्राह्मण होना चाहिए। जहां वह त्याग का आदर्श हो, वहां संसार का नेता बनने के लिए उस में यह बल होना चाहिए कि इस लोक की उन्नति तथा परलोक-विषयक सद्गति के सम्बन्ध में उसे ठीक २ समझ हो। वह केवल जाप करना ही न जानता हो, प्रत्युत वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों से ठीक २ परिचय रखता हो। घृणा न करता

हो। उस की विशेषता इस में नहीं कि वह किसी काम में फंसा हुआ नहीं, वरन इस में है कि इन सब बातों से सम्पूर्णतया परिचित होता हुआ वह अपने उच्च विचारों तथा भक्ति-भाव से संसार के आगे सदा अच्छे आदर्श को रखता रहता है। ऐसे सद्गुरुओं के दिये हुए कोषों की रक्षा का भार सच्चे ब्रह्मचारियों पर है और वह तब तक यह कार्य नहीं कर सकते, जब तक ऋषियों के चरणों में बैठ कर वेद-विद्या में निपुण नहीं होते। जब से वेद-विद्या की ओर से हम उदासीन हुए हैं, न हमें ऐश्वर्य का सुख मिलता है, और न आत्मा में धर्म सन्तोष ही होता है। भला हो अखण्ड ब्रह्मचारी, वेद-विद्या के सूर्य्य दयानन्द स्वामी का, जो हमारा मुंह फिर वेद की ओर मोड़ गया है।

(११) अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अंतरेमे। तयोः श्रयन्ते रश्मयोधिदृढास्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥ ७४ ॥ –११ ॥

(अग्नी) दो अग्नियां (इमे) इन (नभसी) दो ढकनों=पृथिवी तथा द्युलोक के (अन्तरा) बीच में (सम-एतः) इकट्ठी होजाती हैं, उन में से (अन्यः अर्वाग्) एक तो हमारे पास है और (अन्यः) दूसरा (इतः पृथिव्याः) इधर पृथिवी से दूरवर्त्ती है। (तयोः) उन दोनों अग्नियों की (रश्मयः) किरणें मिलकर (दृढाः) दृढ़ हुईं २ (अधि-श्रयन्ते) सारे संसार में व्याप्त हो रही हैं, (तान्) उन को (तपसा) तप से ब्रह्मचारी (आतिष्ठति) धारण करता है ॥

दूसरी आग सूर्य है। अग्नि प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। ब्रह्मचारी भी इन अग्नियों की किरणों को अपने अन्दर धारण करता हुआ, तीसरी अग्नि बनकर अपने तेज को सर्वत्र फैला देता है।

(१२) अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो बृहच्छेपोऽनुभूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ ७५ ॥ –१२ ॥

(अभिक्रन्दन्, स्तनयन्) शब्द करता हुआ, गर्जता हुआ, (अरुणः) लाल (शितिंगः) पक्के रंग वाला (बृहत्-शेपः) बड़ी भारी प्रजनन-शक्ति का (भूमौ-अनुजभार) भूमि पर विस्तार करता है*। (ब्रह्मचारी) (सानौ) उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव वाले, उत्कृष्ट कुल के साथ सम्बन्ध पैदा करके, योग्य क्षेत्र में

---

* जैसे पूर्व सूर्य को ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट किया है, यहां पर मेघ के साथ उपमा को जोड़ा है। इतना मेल मिलाया है कि अतिशयोक्ति द्वारा एक ही कर दिया है। मेघ, काला, भूरा, गर्जता हुआ भूमी पर धान्य-जननी शक्ति को फैलाता है। पर्वतों की चोटियों (सानौ) पर जल-बिन्दु पड़ते हैं, नदियां वेग से बहती हैं, भूमी उर्वरा होती है और लोग जीवन का रस, अन्न पाकर सुखी होजाते हैं।

हमारे ही एक लेखक ने इस अलंकार के आश्रय को छोड़ कर सीधा अर्थ मेघ पर घटाना चाहा है। पर बड़ी मुंह की खाई है। 'बृहच्छेपः' का अर्थ बड़ा प्रभावशाली करते हुए व्याकरण की तथा ब्रह्म-जल करते हुए प्रसिद्धि तथा निरुक्त की सफाई ही करदी है। पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार 'स्तनयन्' शब्द

(रेतः) बीज सींचता है (तेन) इस के द्वारा पृथिवी पर चारों ओर लोग सुख से जीवन धारण करते हैं।

प्यारो, कभी तुम ने अपनी जाति के अधःपतन का भी विचार किया ? समाचार पत्रों में तुम क्या पढ़ा करते हो ? योरुप और अमेरिका के मुख्य मंत्रियों तथा नेताओं की वक्तृताओं में ही न मस्त रहा करो। तुम्हारी जाति में रोग बढ़ रहा है, अतः मृत्यु भी नाना नाम धर कर बढ़ २ कर शिकार खेल रहा है। ब्रह्मचर्य के बढ़ते हुए अभाव के कारण पुंस्त्व (Manhood) कम हो रहा है। उस से तुम्हारी संख्या प्रति दिन घटती चली जा रही है। जहां दूसरी जातियों में विवाह उन के कल्याण का साधन बनता है, वहां तुम्हारे हां योग्य, अयोग्य के विचार से रहित विवाह स्वयं एक रोग बन रहा है। वेद उपदेश करता है कि अपने युवकों में ब्रह्मचर्य की ओर रुचि पैदा करो। वह तुम्हारे जातीय बल के कोष हों। पर इस बहु-मूल्य कोष को ठीक उपयुक्त करने के लिए तुम्हें अपने यहां के विवाह के रिवाज में उचित परिवर्तन भी करना होगा। यह जातीय जीवन का प्रश्न है, इस पर खूब विचार करो।

(१३) अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमादधाति। तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥ ७६ ॥–१३ ॥

मुख्य वृत्ति से मेघ–परक है। 'स्तनयित्नु' मेघ को कहते ही हैं। "सानौ"= शिखर भी उधर ही मुख्यतया लगता है। पर शेष विशेषण मनुष्य को स्मरण कराते हैं।

ब्रह्मचारी अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा (मातरिश्वन्) वायु तथा (अप्सु) जलों में समिधा को (आदधाति) धारण करता है।* (तासाम्) उन (जलादि की) पृथक् २ (अर्चींषि) किरणें (अभ्रे) बादल में (चरन्ति) विचरती हैं, (तासाम्) उन का ही यह फल है जो (आज्यम्) घृत, (पुरुषः) पुरुष (वर्षम्) वृष्टि और (आपः) जल देख पड़ते हैं ॥

जब ब्रह्मचारी गुरु से इन सब पदार्थों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो इन की रश्मियां उस के मन में प्रकाश कर देती हैं। अब उसे जान पड़ता है कि घृत आदि आवश्यक पदार्थ कैसे इन भौतिक देवताओं के परिश्रम का फल हैं। जिस प्रकार प्रत्येक देवता भिन्न २ होते हुए भी दूसरों के साथ मिल कर संसार के जीवन के रक्षक, इन पदार्थों को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही हमारे शरीर में इन्द्रिय–रूप देवता करते हैं, वैसे ही मनुष्य–समाज में नियमानुसार जीवन व्यतीत करने वाले, ब्रह्मचारी लोग किया करें ॥

(१४) आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ ७७ ॥–१४

---

* इन पदार्थों के विषय में पूर्ण ज्ञान पैदा करता हुआ अपने आत्म–यज्ञ में उन को लगा देता है। सृष्टि–यज्ञ में यह सब समिधाएं बन कर ही चक्र को चला रहे हैं। हमारे शरीर में भी इन तत्त्वों के सह–योग से ही सारा कार्य हो रहा है। ब्रह्मचारी का लक्ष्य इन दोनों यज्ञों को मिला कर, अपने तथा संसार के जीवन में शान्ति स्थापित करना है।

अब ब्रह्मचारी को संसार में आंख खोल कर, उपदेश ग्रहण करने वाली वृत्ति को धारण करने की शिक्षा मिलती है। साथ ही, आचार्य का स्वरूप भी वर्णन किया जाता है।

(मृत्युः) (वरुणः) (सोमः) (ओषधयः) (पयः) दूध (सत्वानः) घने, जमे हुए (जीमूताः) जीवन-रस=जल बरसाने वाले मेघ (आचार्यः) आचार्य के समान (आसन्) हैं। देखने वाली आंख देख सकती है कि किस तरह (तैः) इन सब (आचार्य के रूपों) द्वारा (इदम्) इस (स्वर्) नियमानुसार गति वाले सुखमय लोक का (आभृतम्) पालन किया जा रहा है * ॥

---

* सायण पूर्वार्ध में तो ठीक चलता है। पर पौराणिक देव-माला का विचार वरुण के अर्थ में फिर उसे पीछे घसीट लेता है। भौतिक और आत्मिक खिचड़ी इतने बड़े भाष्यकार के कार्य को अनेक स्थलों पर दूषित कर रही है। संगति इस का नाम है, कि जब एक विभाग में चलें, तो अन्त तक उसी को निबाहें। हमारे अपने एक लेखक ने जहां तक सायण का अनुसरण किया है, वहां तक तो ठीक है। पर उसके आगे-कल्पित मन उक्तियों से बड़ी गड़बड़ की है। सोम शब्द का अर्थ 'सउमा' करके केनोपनिषद् को साथ जोड़ना चाहा है। क्या अच्छा होता यदि अपने ही लगाये हुए स्वर का ही विचार कर लेते। ऐसी बातों से यह दिखाना कि 'यही वेदों की गंभीरता है', वैदिक व्याख्यान शैली का उपहास करना है। 'सोम' शब्द का ठीक अर्थ ऊपर कर दिया है। इस में कोई कमी हो, तो कल्पनाओं से काम चलाया जावे। फिर उपनिषदों की रचना वेद के पीछे की है। ऋषियों ने वैदिक विचारों को सुन्दर कथाओं से समझाने का कई स्थलों पर यत्न किया है। पर, क्या इन कथाओं को वेद से निकाल कर ही वेद का गौरव स्थापित किया जावेगा?

मृत्यु आचार्य है। इस ने कितने विचारकों को प्रथम प्रेरणा करके संसार का उपकार किया है। इसे केवल मारने वाला ही मत समझो। यह आत्मा की ज्योति के जगाने में भी बड़ा सहायक होता है। वरुण, परमात्मा की रमणीय, वरणीय, सर्वत्र व्यापिनी शक्ति का प्रकाश करता है। कहीं सूर्य के रूप में, कहीं जल के अधिष्ठाता के रूप में इस का वर्णन पाया जाता है। दोनों रूपों में जगत् के विस्तार और इस के परम कारण जगदीश्वर का ध्यान पैदा करने में बड़ा सहायक है। सोम प्रभु की प्रेरणात्मक शक्ति के प्रकाश का नाम है। यह चन्द्र की मनोहर, चित्त-विकासिनी, शीतल चांदनी के रूप में हमारे ऊपर प्रभाव डाल रहा है। क्या यह प्रकाश गुरु बनकर हमें चेतावनी नहीं दे रहा कि हम भी इसी प्रकार का, शीतल उज्ज्वल, शान्तिकर, आनन्द-प्रद स्वभाव पैदा करें। ब्रह्मचारी खुली वायु में दिन को सूर्य से और रात को चांद से दिल खोलकर उपदेश ग्रहण करे। ओषधियों तथा दूध की लोकोपकारिणी रचना और विचित्रता को वह सदा अपने सामने रखता हुआ, संसार के लिए दुःखविनाशक, ओषधिरूप तथा पुष्टिकारक, दुग्ध-रूप बनने का यत्न करे और वर्षा ऋतु में घनघोर, गरजते हुए मेघ जल क्या बरसाते हैं, पशु, पक्षि, जलचर, स्थलचर, घास और पत्ता—सभी के लिए जीवन-रस की वर्षा करते हैं। क्या

इतिहास का इस से बड़ा अपकार होगा। यह बीमारी भी सायण से ही आरंभ हुई है। यह कठोपनिषद् से मिलाता है॥

यौवन-दशा को प्राप्त करके, ब्रह्मचारी भी ज्ञान रस की वृष्टि करता हुआ, संसार के आत्मिक जीवन का और शारीरिक पुष्टि से शारीरिक जीवन का प्रदान करने वाला न बनेगा ? बनेगा और अवश्य बनेगा, यदि वह इन भावों से चित्त की कोठड़ी को भरता रहेगा। यह भाव उसके हृदय में सच्चे आचार्य की संगति से पैदा होंगे। वह मृत्यु-रूप होकर उस के क्षुद्र भावों को भस्म करता है। वरुण रूप होकर वरणीय, मनोरम गुणों को उस में प्रविष्ट करता है । सोम-रूप होकर उस के आलस्य को दूर कर पुरुषार्थ की घुट्टी पिलाता है। ओषध-रूप होकर सब दुःखों और दोषों को छिन्न भिन्न कर देता है। दुग्ध-रूप होकर उसे ज्ञान के दूध से पुष्ट करता है और जीवन-वर्षक मेघ की भान्ति सर्व प्रकार का जीवन प्रदान कर निहाल कर देता है। धन्य है, वह देश और जाति, जहां इन पवित्र आदर्शों के अनुसार, प्रकृति और परमात्मा की गोद में बैठ कर, आचार्य पढ़ाते हैं और ब्रह्मचारी पढ़ते हैं। वहीं सुख की वर्षा सदा होती है।

(१५) अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ। तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥ ७८ ॥ –१५ ॥

आचार्य के पास विद्यार्थी भिन्न २ प्रकार के आते हैं, पर, वह (अमा) अपने घर (कुल) में=अपने संसर्ग से (केवलं) सब दोषों को हटाकर शुद्ध (घृतम्) सरल भाव तथा प्रकाश (कृणुते) पैदा कर लेता है। पढ़ाने के पश्चात् (वरुणः भूत्वा)

स्वीकार करने योग्य होकर (प्रजापतौ) प्रजाओं के पालन करने के लिए जाने वाले उस ब्रह्मचारी से (यत्-यत्) जो २ (ऐच्छत्) इच्छा करता है, (मित्रः) स्नेह से युक्त (ब्रह्मचारी) स्नातक (स्वान्) अपने (आत्मनः) स्वार्थ तथा निजी भावों से भी (अधि) बढ़कर, ऊपर उठकर (प्रायच्छत्) गुरु की आशाओं को पूर्ण करता है*।

आचार्य स्वीकार करने योग्य कब होता है ? जब वह ब्रह्मचारियों के हृदयों को अपने साथ मिलाकर घृत-रूप बना लेता है। वह अब कोई बात उस से छिपाकर नहीं रखते। सरल-स्वभाव को धारण कर, गुरु के ज्ञान से प्रकाश को प्राप्त करते हैं। उस दशा में गुरु जो आज्ञा करता है, वह स्वार्थ नहीं, वरन प्रजापति, परमात्मा के निमित्त सेवा का भाव ही हो सकता है। इस प्रकार के त्यागी, हरि-चरण-शरण में लगे हुए आचार्य के आदेश को कौन ब्रह्मचारी, सच्चा विद्यार्थी

---

* यह अत्यन्त कठिन मन्त्र है। ग्रिफिथ साहिब ने पहिले पाद का अर्थ किया है 'आचार्य सारा मक्खन घर ले जाता है'। बहुत खूब ! यदि तनिक भी आचार्य के लक्षण का ज्ञान होता या किसी आर्य विद्वान् से पूछ ही लिया होता, तो इतना अनर्थ न करता। आचार्य को इस समय शिष्य के कठोर भावों को पिघलाने की चिन्ता है। उसे अपने लिए घृत की चिन्ता नहीं घेर रही। सभी अनुवादकों ने प्रायः स्वान्=स्वात् करके अर्थ किया है। पर, यह पद-पाठ के विरुद्ध होने से हमें स्वीकार नहीं। विशेषतः जब और सुन्दर अर्थ हो सकता हो। ब्रह्मचारी ही अब प्रजापति बनने लगा है। इसके लिए अगला मन्त्र देखो।

अपने आराम तथा सुख के लिए गौण कर सकता है ? यह सारी बातें उसी समय हो सकती हैं, जब पढ़ाने वाले और पढ़ने वाले वस्तुतः इन भावों को समझ कर गुरु-शिष्य प्रणाली को चलाने की इच्छा करते हों। प्यारो, ध्यान से सुनते चलो। वेद-वीणा अब बज रही है।

(१६) आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥७९॥ –१६॥

आचार्य ब्रह्मचारी होवे, तब ही उससे शिक्षा पाया हुआ ब्रह्मचारी प्रजा का पालक होकर (विराजति) शोभा और यश को लाभ करता हुआ (इन्द्रः वशी) सब को वश में करता और ऐश्वर्य का स्वामी बनता है *।

शोभा उसी व्यक्ति की होगी, जो प्रजा के हित के कार्यों में लगने वाला होगा। जो पूर्ण संयमी होकर शिक्षक बनेगा, उसी के विद्यार्थी जगत् में दीपक बनकर प्रकाश करेंगे और अपने पराक्रम से पीठ दिखा कर कभी भी वापिस आने वाले न होंगे। इस मन्त्र से आरंभ करके अब ब्रह्मचर्य की महिमा का विस्तार

---

* सायण के अनुसार प्रजापति, विराट् तथा इन्द्र पारिभाषिक शब्द हैं। अविद्योपहित ब्रह्म, सृष्टि–रूप में प्रजापति कहलाता है, इत्यादि। पर यह बात ठीक नहीं है। यहां पर ब्रह्मचारी को ही प्रजापति और विराट् बनना कहा है। वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार जीव कभी ईश्वर नहीं बन सकता। जब भी उसकी उपाधि का अन्त होगा, वह शुद्ध ब्रह्म ही होगा, शबल ब्रह्म में परिवर्त्तन सायण के अपने सिद्धान्त के विरुद्ध है।

बतलाते हैं। इसका सार यह है कि संसार में जो जीवित रह कर कुछ दिखाना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी होना चाहिए।

(१७) ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥८०॥ -१७ ॥

राजा ब्रह्मचर्य-रूपी तप की सहायता से (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) विशेष (रक्षति) रक्षा करता है। आचार्य ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्मचारी को (इच्छते) चाहता है *।

संसार का राष्ट्रिय-इतिहास इस बात में साक्षी है कि जितेन्द्रिय तपस्वी राजा ही प्रजा के हित-कारक हो सकते हैं। जो विषय वासना से व्याकुल हो रहे हों, उन के हाथों निर्बल प्रजा की कोई वस्तु भी सुरक्षित नहीं रह सकती। यह उनके अत्याचार से ही राक्षसी रिवाज चला है, कि, अबलाओं के मुखड़े बुरके की दीवार के पीछे कुम्हलाये रहते हैं। ऐसे शासक प्रजा के भक्षक होते हैं, न कि रक्षक। जब कभी विदेशी शत्रु उन्हें आ दबाता है, तो उस समय प्रजा की वही अवस्था होती है, जो उन

---

* हमारे एक लेखक ने यों समझा है कि राजा राष्ट्र में ब्रह्मचर्य का प्रचार करके उस की रक्षा करता है और ऐसे ही गुरु भी ब्रह्मचारी में ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा कराकर उसका कल्याण करता है। जहां तक इस भाव का सम्बन्ध है, यह बड़ा अच्छा है। पर, वेद के शब्दों से ब्रह्मचर्य राज-कर्तृक तथा आचार्य-कर्तृक है। राजोपकरण और आचार्योपकरण का भाव तो निकल सकता है, पर दूसरा नहीं। अन्यथा अगले मन्त्र में अर्थ की समता को स्थिर करने के लिये "घास भी ब्रह्मचर्य करता हुआ घोड़े से खाया जाता है" यह अर्थ करना होगा। इससे स्पष्ट है कि यहां भी इस अर्थ की संगति लगनी कठिन है।

भेड़ों की होती है, जिनका राखा कहीं दूर चला गया है और क्रूर बाघ ऊपर आकूदा है। निर्वीर्य पुरुषों के हाथ में राज्य अधिक देर नहीं ठहर सकता। प्यारो, अपनी बुरी रीतियों, दुर्व्यसनों और नाना प्रकार के कुकर्मों को सोचो और फिर बतलाओ कि वेद का कहना कितना ठीक बैठता है। तुम्हारी जाति की परतंत्रता न हो, तो और क्या हो? कितने शोक की बात है कि ब्रह्मचर्य का इतना सुन्दर उपदेश तथा इतिहास तुम्हारे धर्म-ग्रन्थों में पाया जाता हो और उस का आचरण इतना थोड़ा हो।

यह संयम तथा मर्यादा का जीवन ही है, जो पढ़ाने वालों में विशेष प्रतिभा पैदा करता है। उन में विचित्र आकर्षण-बल उभर आता है। उन के मस्तक से ब्रह्मवर्चस की किरणें निकल२ कर उन के शिष्यों पर पड़तीं हैं। वस्तुतः ऐसे ही गुरु चाहते हैं कि जितना उन से बन पड़े, वह उपकार करते ही रहें। जब कोई उन से पढ़ने आता है, तो उन को प्रसन्नता होती है। यहां ब्रह्मचर्य से तात्पर्य वही है, जो इस सूक्त की व्याख्या से पूर्व मैंने बतलाया था। यह वह मर्यादा है जिस का पालन सब वर्ण और सब आश्रम कर सकते हैं॥

(१८) ब्रह्मचर्येण कन्या३युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥८१॥ –१८॥

ब्रह्मचर्य के प्रताप से कन्या योग्य, युवा पति को (विन्दते) प्राप्त होती है। (अनड्वान्) बैल और (अश्वः) घोड़ा ब्रह्मचर्य से ही घास=अपने भोजन को (जिगीषति) जीतते हैं *॥

* ह्विटने साहिब के अनुवाद पर तो हंसी आती है। वह ब्रह्मचर्य=वैदिक

केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, वरन सब प्राणियों के लिए ब्रह्मचर्य का विधान है। कन्याओं और स्त्रियों के लिए वैसे ही इस का पालन आवश्यक है, जैसे पुरुषों के लिए। जब तक दोनों, युवतियां और युवा इस गुण से युक्त नहीं होते, तब तक योग्य विवाहों का हो सकना असंभव है। अतः सन्तान भी योग्य उत्पन्न नहीं हो सकती। इस का परिणाम, वर्ण-संकरता और सब धर्मों का उच्छेद ही तो है।

जब तक घोड़े, बैल और दूसरे पशुओं में शक्ति बनी रहती है मालिक भी उन पर प्रसन्न रहता है और उनका उत्साह भी बना रहता है। पशुओं का खुले छलांगें लगा २ कर कूदना और मनों चारा चर जाना उन के ब्रह्मचर्य का ही द्योतक है॥

(१९) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥ ८२॥—१९॥

विद्यार्थिपन, समझ कर चले हैं। यहां गाड़ी रुकती देख कर आश्चर्य करते हुए कहते हैं कि यदि अर्थ को कुछ ढीला कर दें तो मंत्र बेहूदा नहीं रहेगा। वस्तुतः ब्रह्मचर्य का भाव न समझते हुए, उन्हों ने स्वयं एक काल्पनिक घेरा अपने गिर्द डाल लिया है। मंत्र तो जैसा है, वैसा ही है। हां, अनुवाद निःसन्देह बेहूदा है। उन का ऐसी अवस्था में भाष्य करने बैठना इस लोकोक्ति के अनुसार है:—'हाय मां, मैं रह न सकूं'। भारतवासी आर्य बालक भी जानता है कि ब्रह्मचर्य से तात्पर्य क्या होता है। सायण तीसरे पाद को पूरा करने के लिये दूसरे पाद से 'पतिं लभते' यह शब्द मिलाता है। परिश्रमी बल वाले बैल को ही अच्छा मालिक मिलता है॥

(देवाः) विद्वान् योगी ब्रह्मचर्य-रूपी तप के द्वारा मृत्यु को (अपाघ्नत) जीत लेते हैं । इन्द्र (ह) भी ब्रह्मचर्य से ही उन के लिए (स्वः) सुख (आभरत्) लाता है ॥

अकाल मृत्यु को ब्रह्मचर्य तथा तपश्चर्या से हटाया जा सकता है । उसी राष्ट्र में इन ब्रह्मचारियों को सुख मिल सकता है, जहां यह निर्विघ्न होकर अपने तपों को तप सकते हैं । जहां दुष्ट असुर तथा नीच शत्रु नित्य धाड़ें मारते हों, वहां यह लंगोट-बन्द भी समाधि नहीं लगा सकते । इसलिए मन्त्र के दूसरे भाग में इन्द्र=राजा का ब्रह्मचारी होना पुनः आवश्यक बताया है ॥

(२०, २१) ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः । संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये । अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ ८३—८४ ॥ –२०, २१ ॥

(ओषधयः) ओषधियां (भूत-भव्यम्) भूत और भविष्य (अहो रात्रे) दिन और रात (वनस्पतिः) वृक्ष (ऋतुभिः) ऋतुओं के (सह) साथ (संवत्सरः) वर्ष (पार्थिवाः) पृथिवी-चर (दिव्याः) आकाशी (पशवः) प्राणी (आरण्याः) जंगली (च) और (ग्राम्याः) पालतू (अपक्षाः) पंखों से रहित (च) और (पक्षिणः) पंखों वाले (ये) जो और जितने भी हैं (ते) वह (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से* ही (जाताः) प्रकट होते हैं ॥

---

* हमारे ही एक भाई ने अर्थ किया है :—'वह सब ब्रह्मचारी बन गए हैं' । अर्थ अच्छा है । सारा संसार किस प्रकार नियम-पूर्वक चलता है, यह

इन मन्त्रों में सारे संसार का चलाने वाला ब्रह्मचारी वर्णन किया गया है। प्यारो, तनिक सूर्य का तो विचार करो। काल के जितने विभाग हैं, वह उसी पर निर्भर हैं। दिन, रात, सप्ताह मास, ऋतु, वर्ष, भूत, भविष्य और वर्तमान उसी की प्रेरणा से वर्तमान हो रहे हैं। ओषधियों और वनस्पतियों, पशु और पक्षियों को जन्म से लेकर पतन पर्य्यन्त जीवन देने वाला, शक्ति बढ़ाने वाला, पकाने वाला और पका कर गिराने वाला वही है। सूर्य की यह सारी महिमा उस के अखण्ड ब्रह्मचर्य पर निर्भर है। कोई उस के सामने क्या तप करेगा? उस का तेज सदा उस के माथे पर चमकता है। इस ब्रह्मचारी का वर्णन मनुष्य-ब्रह्मचारी का स्मरण कराने वाला होना चाहिए। उस की विभूति भी बड़ी विशाल है। निःसत्त्व, विषयानन्दों की बला से, वसन्त चलता है या ग्रीष्म चलता है। उन्हें तो अपने भोग-विलास की ही सोच खाये जाती है। पर, इतिहास उन महा-वीरों के चरित्र का चित्र खींच कर पवित्र होता रहता है, जो वस्तुतः मनुष्य-समाज के बनाने और चलाने वाले हुआ करते हैं। उन के जीवन के संयम तथा नियम-बद्ध व्यवहारों ने ही उन्हें ऊंचा किया और यही खुले शब्दों में ब्रह्मचर्य है। भूत-इतिहास ऐसे महापुरुषों का बनाया हुआ है और आगे भी ऐसे ही ब्रह्मचारी नया इतिहास जोड़ते चले जावेंगे॥

विचारते हुए ब्रह्मचर्य का विस्तार समझ में आ सकता है। पर आगे मन्त्र, २३वें में "तस्माज्जातम्" इत्यादि को सामने रखकर और अन्य सैंकड़ों स्थलों का विचार करते हुए, हमने दूसरे अनुवादकों का ही अनुसरण करना ठीक जाना है।

(२२) पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति। तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥८५॥ –२२॥

(सर्वे) सब (प्राजापत्याः) प्रजापति की सन्तान, पशु, पत्ती, मनुष्य आदि (आत्मसु) अपने अन्दर (पृथक्) अलग २ (प्राणान्) प्राणों को (बिभ्रति) धारण करते हैं। (तान्) उन (सर्वान्) सब को (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आ-भृतम्) धारण किया हुआ (ब्रह्म) वेद-ज्ञान (रक्षति) रक्षा करता है॥

ब्रह्मचारी अपने उच्च आदर्श तथा पवित्र विचारों से लोगों के सामने एक अच्छा, अनुकरण करने योग्य उदाहरण रखता है। निर्बलों की रक्षा करता है। अत्याचारियों को दण्ड देता है। यह काम केवल शारीरिक बल नहीं करता। वेद का परम पुनीत ज्ञान ही उसकी बुद्धि में इस सामाजिक उत्तरदायित्व के विचार को जगाता है। इस से शून्य होकर वही बल लोगों को सताने में लगता है॥

(२३) देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ८६ ॥ –२३ ॥

(एतत्) यह ब्रह्मचर्य्य (देवानाम्) विद्वान् जनों से ही (परि-सूतम्) धारण किया जाता है। (अन्-अभि-आ-रूढम्) इस पर कोई चढ़ नहीं सकता, (रोचमानम्) चमकता हुआ (चरति) वर्तमान होता है। (तस्मात्) उसी से ही (ब्राह्मणम्)

ब्रह्म=वेद-सम्बन्धी, वेद में प्रतिपादित (ज्येष्ठं) ब्रह्म (जातम्) प्रकाशित होता है; (च) और (सर्वे) सारे (देवाः) विद्वान् (अमृतेन) अमृत के (साकम्) साथ प्रकट होते हैं* ॥

विद्वान् ही इस रत्न की महिमा जानते हैं। वस्तुतः उन्हें ही विद्वान् कहना चाहिए। इस से बढ़कर और दूसरी शक्ति नहीं है। इसी के साधन से परमेश्वर का यथार्थ बोध होता है। इसी के संग से अमृत-पद की प्राप्ति होती है ॥

(२४) ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः। प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्ममेधाम् ॥ ८७ ॥ –२४ ॥

ब्रह्मचारी (भ्राजत्) चमकते हुए (ब्रह्म) वेद को (बिभर्ति) धारण करता है। (तस्मिन) उस में (विश्वे) सारे (देवाः) देवता (अधि-समोताः) ठीक पिरोए रहते हैं। प्राण, अपान, व्यान, वाक्, मन, हृदय, ब्रह्म तथा मेधा को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (ही ऐसा करता है) ॥

---

* सायण एतत्=ब्रह्म करता है। अतः यहां ब्रह्म पिछले मन्त्र वाला ब्रह्म=वेद ही उसे लेना चाहिए था। ऐसा न कर पाने से उस के अनुवाद में गड़ बड़ सी हो रही है। यदि ब्रह्म=वेद लेते भी, तो फिर तीसरा पाद संगत न होता। वेद से वेद पैदा हुआ, यह कुछ अर्थ न देता। वस्तुतः यह ब्रह्मचारी की ही महिमा है, अतः एतत्=ब्रह्मचर्यम् ही लेना उचित तथा संगत है ॥

वेद तथा वेदानुसारी विद्वानों के बनाये हुए ग्रन्थों को धारण करता हुआ, ब्रह्मचारी अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। प्राणायाम द्वारा जीवन-शक्ति बढ़ाने से उस की वाणी में विशेष बल आता है। मन वश में होने पर जीव के स्थान, हृदय-कमल में विकास होने लगता है। अपने अन्तर्यामी प्रभु की उपासना से मेधा प्राप्त करता है॥

इसके आगे के मन्त्र की व्याख्या कल मैंने आप सज्जनों को सुनाई थी *। उसे न दुहरा कर इस सूक्त के अन्तिम मंत्र को लेता हूं।

(२५) तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ ८८॥ –२६॥

(तानि) इन सब बलों और शक्तियों को (कल्पत्) बढ़ाता हुआ, ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य रूपी समुद्र में (तप्यमानः) तपस्या करता हुआ (सलिलस्य पृष्ठे) चंचल वृत्तियों की पीठ पर—उन को दबा कर (तपः अतिष्ठत्) तप को सिद्ध करता है। (सः) वह (स्नातः) स्नातक बन कर जब निकलता है, तो यौवन के कारण (बभ्रुः पिंगलः) कुछ भूरे, कुछ पक्के पीले रंग वाला (पृथिव्यां) पृथिवी पर (बहु) बहुत (रोचते) प्रकाशित होता है॥

प्यारे सत्संगियो! यह ब्रह्मचर्य का सुन्दर उपदेश आप ने सुना। इस के महत्त्व पर विचार करते हुए वेद का महत्त्व

* देखो, वेदसन्देश, २। १। २२॥

समझो। यह केवल मृग-चर्म धारण करने या मेखला बांधने का नाम नहीं। यह जीवन-शक्ति की वृद्धि के मर्म का ज्ञान है। इस सूक्ष्म विषय का संसार के सब से पुराने ग्रन्थ में इतनी गंभीरता से वर्णन किया जाना विस्मित करने वाला है। विवश होकर, मस्तक वेद के आगे झुकना चाहता है।

सत्य०-महाराज, मेखला का ब्रह्मचर्य से कैसे सम्बन्ध समझना चाहिए ?

महा०-प्यारे, मेखला का मुख्य काम घेरा डालना है। यह मर्यादा का उपलक्ष्य है। यह जीवन के संयम का चिह्न है। शरीर पर धारण करने से तथा इस का मानसिक विचार करने से मनुष्य पूर्ण जितेन्द्रिय बन सकता है। किसी बात में 'अति' न करे। यही मेखला-बद्ध जीवन है। यही ब्रह्मचारी की सब से बड़ी पूंजी है। यदि तुम्हारी इच्छा हो, तो इस मेखला के विषय में एक छोटा सा सूक्त आज और सुना दूँ। क्यों भाई, आप लोग थक तो नहीं गये ?

प्रायः सब ओर से "नहीं महाराज, नहीं महाराज" का शब्द सुनाई दिया। महात्मा ने प्रसन्न-चित्त होकर पुनः आरंभ किया*। अथर्व ॥ ६। १३३ ॥

(२६) य इमां मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो

---

* अगस्त्य ऋषि, मेखला देवता, छन्दः, १, भूरिक् त्रिष्टुप्; २, अनुष्टुप्; ३, त्रिष्टुप्; ४, जगती; ५, अनुष्टुप्। पीछे आकर, लोगों ने इस प्रकार के सूक्तों को जादू टूने में ही लगा कर अपनी शक्तियों का क्षय किया है। देखो, सायण भाष्य।

युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुंचात् ॥८९॥ –१ ॥

(यस्य) जिस (देवस्य) परमात्मा की (प्रशिषा) आज्ञा से (चरामः) हम संसार-यात्रा कर रहे हैं। (यः) जो (इमाम्) इस (मेखलाम्) मेखला को (आबबन्ध) बांध रहा है, (संननाह) अच्छी तरह से जकड़ रहा है, (उ) और (नः) हमें उस से (युयोज) जोड़ रहा है। (सः) वही (पारम्) हमें पार पहुंचाने के लिए भी (इच्छात्) इच्छा करे। (सः उ) वही (नः) हमें (विमुञ्चात्) बचावे ।

प्यारो, संसार में पत्ता तक भी उस प्रभु की आज्ञा के बिना नहीं हिल सकता। उस ने ही हमारे लिए विद्या का प्रकाश करते हुए शारीरिक तथा आन्तरिक जीवन को ठीक चलाने के हेतु नियमों को बांध रखा है । इस नियम-माला रूपी मेखला को धारण कर के हम संसार-सागर में कूद पड़े हैं, हमारे परिश्रम को फलदायक बनाना प्रभु के आधीन है । हमें उस पर भरोसा, पूर्ण विश्वास और श्रद्धा चाहिए । हमें पुरुषार्थ से प्रयोजन है। हमें परिणाम की निरर्थक चिन्ता में घुलने की कोई आवश्यकता नहीं । यही सच्चे सन्तोष का स्वरूप है। यह आर्य-जीवन का एक सुन्दर अवयव है । इसे धारण करो।

(२७) आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ ९० ॥ –२ ॥

(मेखले) हे आर्य-जीवन की मर्यादा की चिह्न, मेखले ! (आहुता) तू धारण तथा (अभिहुता) पूजा की जाती (असि) है। (ऋषीणाम्) ऋषियों का तू (आयुधम्) हथियार (असि) है। (व्रतस्य) संकल्प किये हुए व्रत का तू (पूर्वा) प्रकृष्ट-रूप से (प्राश्नती) आस्वादन करती हुई (वीरघ्नी भव) हमारे शूरवीर शत्रुओं को मारने वाली तू हो।

ऋषियों और मुनियों का तीव्र अस्त्र उनका नियम-बद्ध जीवन है। जातियों की हड्डी पक्की करने वाला भी यही है। जिस देश के निवासियों में अपने संकल्पों को पूरा करने के लिए उत्साह बना रहता है, उन का कठिन जीवन ढाल की तरह उन्हें बचाता और तेज़ तलवार की तरह शत्रु-सेनाओं को काटता है।

अच्छे २ संकल्प मनुष्य करते बहुत हैं। पर, उन्हें सिरे तक पहुंचाना किसी २ का ही काम होता है। यही मनुष्यों में छुटाई बड़ाई का तारतम्य पैदा करने वाली बात है। इसी के प्रताप से मनुष्य ऋषि और देवता बन जाता है। वेद व्रत को पूरा करने का उपदेश करता है। थोड़ा नियम धारण करो। छोटी बात से आरम्भ करो। जब उसको अपने जीवन का अंग बना लो, तो दूसरा बड़ा पग धरो। विचार का आचार में परिवर्तन कर सकने से शक्ति दुगनी हो जाती है, अन्यथा दुर्बलता बढ़ जाती है।

वेद धार्मिक युद्ध से घृणा पैदा नहीं करता। वेद हिंसा और अहिंसा के मूल में समाज-उन्नति और धर्म-वृद्धि को रखता है।

यदि हिंसा से यह दोनों बातें सिद्ध होती हैं, तो उस समय उस हिंसा का पाप रूप डंक झड़ जाता है । जब स्वार्थ से अन्ध होकर, अन्याय तथा अत्याचार किया जाता है, तो अहिंसा भी हिंसा समझनी चाहिए। झूठ, धोखा दंभ, पीठ पीछे हानि करना—यह सब हिंसा है। वेद वीरों के साथ युद्ध करना बतलाता है। गीदड़ों को मारने के लिये इतनी बड़ी मेखला के बांधने का उपदेश नहीं करता । सोये हुओं को, निर्बलों, कायरों को मार कर लज्जित होना पड़ता है । वीर के सामने वीर खड़ा हो और धर्म-युद्ध हो रहा हो, तो वस्तुतः यश और शोभा है। जब तक मनुष्य शरीर के साथ जुड़ा रहेगा, काम क्रोध आदि से सर्वथा छूट नहीं सकता । कभी न कभी इन वृत्तियों का अनुचित प्रयोग भी करेगा ही। उसी समय आर्य-शासन पद्धति के अनुसार वह दण्डनीय ठहरता है । इस लिए लड़ाई के नाम से न घबराया करो। उस के मूल को सोचा करो। देखो, आगे वीर योधा का चित्र खींचा है।

(२८) मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ९१ ॥ –३ ॥

योधा युद्ध में निकल पड़ा है । अधार्मिक, पापी, अत्याचारी जनों को समाप्त करके ही अब उसे वापिस होना है । मानो, मृत्यु ने उसे शिष्य-भाव से स्वीकार कर लिया है और अपने कार्य की उसे शिक्षा दे रहा है। शिक्षा के लिये अब यह

बाहिर निकला है, ताकि अपने गुरु को सन्तुष्ट कर सके । उस के यह भाव हैं:—

(मृत्योः) मृत्यु का (अहम्) मैं ब्रह्मचारी (यत्-अस्मि) जो बना हूं, तो (अहम्) मैं (भूतात्) जीवित संसार में से (यमाय) अपने गुरु के लिए (पुरुषम्) पुरुष को (निर्याचन्) अलग करके मांगता हुआ (तम्) उस चुने हुए व्यक्ति को (ब्रह्मणा) सूक्ष्म ज्ञान (तपसा) तप (श्रमेण) परिश्रम-रूपी (अनया) इस (मेखलया) मेखला से (सिनामि) बांधता हूं ।

वैदिक योधा सारे संसार पर दृष्टि डाल कर केवल वहीं पग उठाता है, जहां अपने पापों के भार से कोई मनुष्य मय के समर्पित होचुका है । हंस के समान वह दूध और जल में विवेक कर ही लेता है, तब अन्तिम वार का निश्चय करता है । उस का यह निश्चय भ्रम-मूलक नहीं होता, क्योंकि वह सूक्ष्म ज्ञान की सहायता से ही यह करता है । तप तथा पुरुषार्थ से युक्त होकर वह आगे बढ़ता है । मेखला-मयी मर्यादा के अन्दर रहने पर वह पक्ष-पात आदि तुच्छ भावों से प्रेरित होकर किसी के वध की कामना नहीं करता । इस का फल यह होता है कि जब ऐसा संयमी किसी को मार मिटाने का संकल्प कर लेता है, तो अब उसे रोकने की किसी में शक्ति नहीं होती । इतना बल, वीर्य और तेज मर्यादा-मय जीवन का पालन करने से ही उपजता ह ।

(२९) श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा

**ऋषीणां भूतकृतां बभूव। सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधा-
मथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ९२ ॥**

हे मेखले, तू (श्रद्धायाः) श्रद्धा की (दुहिता) पुत्री है, (तपसः) तप से (अधि-जाता) प्रकट होती है, (भूतकृताम्) संसार को ढालने वाले (ऋषीणाम्) दीर्घ-दर्शी ऋषियों की (स्वसा) बहिन (बभूव) है, (सा) ऐसी तू (नः) हम में (मतिम्) मनन-शक्ति (मेधाम्) धारण-शक्ति (अथो) और (तपः) तप (च) तथा (इन्द्रियम्) इन्द्रियादि शरीर के अंगों का बल (आ-धेहि) धारण कर।

प्यारो, इस मन्त्र के पाठ के साथ ही बालकों को तुम्हारे पूर्वज मेखला धारण कराया करते थे। आहा! क्या आनन्द हो, यदि पुनः इन मन्त्रों की महिमा तथा इन रीतियों के गूढ़ अर्थ को हम समझ जावें! वेद की मेखला रस्सी तक ही समाप्त नहीं होती। यह तो आ-जीवन चलने वाली, ब्रह्मचर्य की मर्यादा का बाह्य चिन्ह है। देखो, यह जीवन-कला श्रद्धा की पुत्री है। विना श्रद्धा के इसे धारण करना कठिन है। कठिन जीवन में पग धरने के लिये प्रथम विश्वास ही एक सहारा होता है। जब तक वैद्य पर विश्वास न हो, रोगी के गले के नीचे ओषधि जाती ही नहीं। चली भी जावे, तो लाभ बहुत नहीं करती। इस लिये अनुभवी सज्जन वेद के विद्वान् जो मार्ग बतावें, उस पर कुछ देर चलने से ही लाभ, अलाभ का निश्चय होसकता है, पहिले नहीं। यह करने की विद्या है। जब इन कठिन नियमों

का पालन करता हुआ मनुष्य, शीतोष्ण तथा सुख, दुःख के सहन करने का अभ्यास करके तप को सिद्ध कर लेता है, तो उस की अन्दरूनी जीवन-मेखला का बाहिर भी प्रकाश होने लगता है।

वह नियमचर्या ऋषियों की भगिनी है। सदा उनका साथ देने वाली सहचरी है। इस से रहित होकर वह संसार के लिए कुछ भी न कर सकें। इसी के पालन से मनन-शक्ति बढ़ती है, क्योंकि प्राणायाम आदि साधनों द्वारा मन एकाग्र हो जाता है। मन की चंचलता दूर हो जाने से सुने हुए, पढ़े हुए को धारण करने की शक्ति-मेधा भी प्राप्त हो जाती है। ज्ञान तथा तप का प्रकाश और सारी इन्द्रियों की शक्तियां हमें प्राप्त हो जाती हैं। अतः न केवल रोग से बचने के लिए, वरन वर्तमान पूंजी को बढ़ाने के लिए भी ब्रह्मचर्य आदि मर्यादा-बद्ध गुणों का धारण करना आवश्यक है। इसलिए, प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन यह धारणा स्थिर करते रहना चाहिएः—

(३०) यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे। सा त्वं परिष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले॥ ९३॥

हे मेखले (यां त्वा) जिस तुझ को (पूर्वे) उत्तम (भूतकृतः) संसार के आगे लेजाने वाले (ऋषयः) ऋषिजन (परि-बेधिरे) अन्दर और बाहिर से एक-रूप होकर अच्छी तरह बांधा करते हैं, (सा त्वम्) वह तू (माम्) मेरे (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिए (परि-ष्वजस्व) चारों ओर से लिपट जा।

सचमुच यही ऋषियों की सिद्धि का रहस्य है। यही उन्हें मनुष्यों से ऊपर उठकर ऋषि बनाने का साधन मिला है। वेद सब को उत्साह देता है। जो चाहे, इस मार्ग पर चलकर लम्बी आयु का भोग करता हुआ, ऋषि बन सकता है। श्रद्धा पूर्वक वैदिक जीवन को धारण करो। सब रोग आदि शत्रु दूर ही रहेंगे। यही कारण है कि तुम्हारे पूर्वजों ने ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर इतना बल क्यों लगाया है। बस आज का विषय यहीं समाप्त करता हूं। जाओ अपनी त्रुटियों को दूर करो और इन बातों पर विचार करते हुए नये जीवन को धारण करने का दृढ़ संकल्प करो।

बृह०—महाराज, मैं इतने दिन से आप के उपदेश को सुन रहा हूं। यद्यपि मैं चुपचाप रहता हूं, तो भी इस का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं ध्यान से सुनता नहीं रहता। वस्तुतः मैं कुएं का मैंडक बना हुआ था। मैंने खाना, पीना ही मुख्य धर्म समझ रक्खा था। अब आप की दया से विश्वास हो चला है कि संयम, जितेन्द्रियता, तप, त्याग, सादगी आदि भी कुछ अर्थ रखते हैं। यह ढकोसले और गपोड़े नहीं हैं। पर मुझे एक शंका है, उसकी भी निवृत्ति कर दें, तो बड़ी कृपा हो।

महा०—हां बेटा, अवश्य कहो।

बृह०—नास्तिकता के पाप का प्रायश्चित्त क्या है और क्या उसे करके मैं भी कुछ बन सकता हूँ ?

महा०—बस, इतनी ही शंका है या कुछ और भी ?

बृह०—बस, महाराज यही चाहता हूं कि मैं भी कुछ बनजाऊं।

महा०—तुम अवश्य बन जाओगे। तुम्हारे अन्दर श्रद्धा पैदा हो रही है। बिलकुल मत घबराओ। आज से ही यत्न आरम्भ कर दो। दृढ़ संकल्प करो और उसे पूरा करते चले जाओ। रसातल से भी उठा कर ऊपर ले आने की इस धर्म में शक्ति है। प्रायश्चित्त भी यही है और आगे के लिए साधन भी यही है।

महात्मा यह कहकर चुप हो गए। बृहस्पति का मुरझाया हुआ चेहरा खिल गया। उस ने और दूसरे सब ने महात्मा जी से प्रेम तथा नम्रता से 'नमस्ते' कही और अपने २ घरों को चले गए।

इति द्वितीये शरीर-सन्देशे द्वितीय उच्छ्वासः॥

आदितः पञ्चम उच्छ्वासः।

तृतीय उच्छ्वास ।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ।

सत्य०—महाराज, आपके कल वाले उपदेश पर आचरण करने से तो रोग आदि से छुट्टी ही हो जाएगी। आप ने बड़ा उपकार किया जो इस विषय में हमें प्रकाश दिया है। आज किस विषय को चलाएंगे ?

महा०—नहीं, प्यारे, अभी नया प्रसंग नहीं चल सकता। ब्रह्मचर्य तथा दूसरे बाधक उपायों के द्वारा यह तो ठीक है, कि आये दिन के सहस्रों रोगों और व्याधियों से अधिक अंश में छुटकारा हो सकता है। पर शरीर-यन्त्र की बड़ी विचित्र रचना है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं कि इस के सब चक्रों की चाल के हिसाब को सदा देख सके। अनवधानता भी कभी न कभी हो ही जाती है। दूसरे, हमारा जीवन-इतिहास भी इस जन्म से असंख्य वर्ष पूर्व से चला आता है। पुराना भोग भी भोगना होता है। कहीं न कहीं, दुष्ट रोग-राक्षस को इस अयोध्यापुरी (शरीर) को तोड़कर प्रवेश करने के लिये छिद्र मिल ही जाता है। इस लिए अभी इस विषय को ही आज चलाएंगे।

मा०—तो, भगवन्, उन बाधक (Preventive) उपायों का फिर लाभ ही क्या हुआ ?

महा०—धैर्य्य स्थिर रक्खो। विचार करने से इस प्रश्न का उत्तर फिर आएगा। क्यों सत्यकाम ?

सत्य०—हां महाराज, आप यथार्थ कहते हैं। इन उपायों का सेवन करने वाला, कष्ट के समय विशेष सहन-शक्ति का परिचय देता है। वह साधारण लोगों के समान घबराता नहीं।

महा०—बिलकुल ठीक। देखो, तुम्हारे सामने आज दो ब्रह्मचारियों के जीवन-दृश्य रखता हूं। कुरुवंश का पितामह, देवव्रत भीष्म तीरों की शय्या पर पड़ा २ उत्तरायण सूर्य्य की प्रतीक्षा कर रहा है। मानो, प्राणों को अपने अधिकार में किया हुआ है। मृत्यु की शक्ति नहीं है कि उसे उसकी इच्छा से पूर्व, शरीर से अलग कर सके। शरीर चोटों से निढाल हो चुका है। दाएं बाएं तीर चुभ रहे हैं। रुधिर-धारा बह रही है। पर वह वैसे ही चमक रहा है। भीष्म का ऐसे समय पर ज्ञान-गंगा का बहाते रहना और धीर वृत्ति का धारण किये रहना, ब्रह्मचर्य की महिमा का चमकता हुआ दृष्टान्त है।

दूसरा वीर स्वामी दयानन्द है। इस महा-पुरुष की ओर पहिले भी मैंने संकेत किया था। किसी दुष्ट ने स्वामी जी को विष दे दिया है। उनका लोहे का शरीर वार २ विष के आघातों से, अब की बार इसको बाहिर फैंकने में अशक्त हो चुका है। रोम २ में से फूट २ कर फोड़े और फुन्सियों के रूप में बाहिर निकल रहा है। स्वामी जी को छः मास इस पीड़ा को सहते हो चुके हैं। पर क्या मजाल है कि कभी उफ़ तक भी की हो! डाक्टर और वैद्य भी उस सहन-शक्ति को देख २ कर दांतों से उंगलियों को चबाते हैं। प्रभु में पूर्ण विश्वास है। अपने संकल्प के अनुसार, समय आने पर

प्राण-त्याग करते हैं। अपने अन्तिम, अथाह सन्तोष तथा आनन्द के प्रभाव से नास्तिकों को भी आस्तिक बना जाते हैं।

इस लिए इन बाधक उपायों का तो सदा लाभ ही है। पर जब किसी न किसी प्रकार से रोग ही हो जावे, तब क्या करना चाहिए ?

वस्तु०—महाराज, जब यह दुःख देखना शरीर का भोग है, तो बस, फिर होनी पर छोड़ दे। जो होना होगा, हो जावेगा और उसके पीछे शान्ति भी हो जावेगी। अपने २ समय पर सुख दुःख होते ही रहते हैं। इसमें विचार किस बात का करना है

महा०—भोले भाई, यह बात ठीक नहीं है। जैसे पूर्व जन्म के किये हुए कर्मों का फल भोगना पडता है, वैसे ही वर्तमान जन्म के नये प्रयत्न तथा कर्म का भी अवश्य फल होता है। पूर्व और वर्तमान फलों का योग रोगी के लिए अच्छा प्रभाव पैदा करता है। पुरुषार्थ का परित्याग करके केवल दैववादी बन जाने से जीवन भी दूभर हो जाता है। जब सब कुछ अपने आप ही होना है, तो ब्रह्मचर्य आदि कठिन व्रतों का पालन किस लिए? एक बालक अनाथ हो जाता है। एक बन्धु रोगी हो जाता है। देश परतन्त्र हो जाता है। यह सब पूर्व कर्मों का फल है वर्तमान पुरुषार्थ का इनसे कोई संबंध नहीं, हम इनके निवारण के लिए, सहायता के लिए, क्यों कोई परिश्रम करें? ऐसा समझने से सारे व्यक्ति-गत और समाज-गत जीवन की कपाल-क्रिया हो जाती है। पुरुषार्थ-हीन होकर मनुष्य कायर और भीरु बन

जाता है। जातीय दृष्टि से ऐसे विचार भयंकर सांपों के सदृश हैं। उनकी इस बेढंगी फुंकार से सारा जीवन फीका और नीरस होकर सड़ने लगता है। सब आशा दूर होकर, निराशा के अंधेरे कुंए में मानों धक्का दे दिया जाता है।

सत्य०—महाराज, मैंने एक बार एक पण्डित जी का उपदेश सुना था। वह योगशास्त्र की कथा कर रहे थे। एक स्थल पर आकर यह बतलाया कि जाति, आयु और भोग पूर्व कर्म के फल होते हैं *। इस लिये यह तो पूर्व से ही निश्चित समझने चाहिएं। आप इस बात को तनिक खोल कर समझाइए।

महा०—कभी तुम पुस्तक को लेकर आओगे, तो सारा पूर्व-पर प्रकरण लगाकर तुम्हें सारी बात बतलाऊँगा। संक्षेप यह है। हमारे अन्दर कुछ त्रुटियां हैं। उनमें मुख्य अविद्या या अविवेक है, हम इनके प्रभाव से प्रभावित होकर अपने साक्षि-स्वरूप, उदासीन रूप को भूल कर, शरीर में संलग्न होकर, भांति २ के कर्म में प्रवृत्त होरहे हैं। ज्यों २ हम कर्म करते हैं, हमारी पूंजी जुड़ती चली जाती है। उस पूंजी के ही यह नाना प्रकार के भोग, विशेष जाति में जन्म तथा आयु फल होते हैं। जब तक अविवेक-रूपी मूल बना रहता है, कर्म-बन्धन भी सदा विद्यमान रहता है और यह फल भी होते रहते हैं। पर यह कर्म अवश्यमेव पूर्वजन्म के नहीं होते। वर्तमान जीवन में भी कुछ फल लाते हैं और कुछ पीछे फल लाते हैं। पर जब भी लाते हैं, यह तीनों ही फल के मुख्य भेद होते हैं †। यह सारी

---

* योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र १३।

† साधनपाद, १२।

बात उसी प्रकरण में निश्चित की गई है, और इस बात को तुम अपने सामने देख रहे हो। आज किसान बीज बोता है, पर छः मास परिश्रम करता है, तब जाकर खेत पकता है। दूसरा आदमी आंखों पर पट्टी बांधकर चलता है, तुरन्त ठोकर खाकर गिर पड़ता है। क्या यह स्पष्ट इस बात की व्याख्या नहीं है कि कर्म दोनों प्रकार से फल पैदा करता है। तुरन्त भी और पीछे भी। हमारा जीवन उस जल पात्र के समान है, जिस के ऊपर का ढकना खुला हो और पानी नित्य पड़ रहा हो और जिसके पुराने तथा नये पानी को बाहिर निकालने के लिए एक नलकी नीचे लगी हो। साधारणतया पहिले डाला हुआ पानी ही पहिले निकलेगा। पर, कई वार नया पानी भी अधिक दबाव से डाला जाकर, पहिले जल को चीरता हुआ नीचे निकल जावेगा। इस लिए कौन कर्म कब तक फल पैदा करेगा या करता है, यह जानने की हम में शक्ति नहीं। हम अदृष्ट का दर्शन नहीं कर सकते। कर्म की गति गहन है। पर यह पूर्ण विश्वास से कह सकते हैं कि इस जन्म के कर्मों का भी वर्तमान जीवन पर प्रभाव पड़ता है। मुझे तो यह देखकर खेद भी होता है कि हम इस प्रश्न को क्यों इतना उलटा करके देखते हैं।

इंग्लेण्ड का या अन्य किसी पश्चिमी बढ़े हुए देश का चित्र अपने सामने रक्खो। उन लोगों ने अपनी औसत आयु गत बीस वर्ष में बढ़ा ली है। इसका सीधा अर्थ यही है कि उनके अधिक लोग आगे से अधिक जीवित रहते हैं। अपनी मूर्खता के कारण हमारी आयु कम होती चली आयी है।

सत्य०-महाराज, धर्म-शास्त्र तथा स्मृति में अनेक प्रमाण ऐसे सुने हैं कि आयु घट बढ़ नहीं सकती। वेद तो प्रथम वार आप से सुनने लगा हूं। क्या उसमें ऐसा प्रमाण नहीं है?

महा०-ऋषियों ने वेद को ही परम प्रमाण माना है। स्मृतियां कुछ कहती रहें, यदि वह वेद के विरुद्ध कहती हैं, तो एक भी न मानो। रहा वेद का प्रश्न, तो आज मेरी इच्छा यही है कि इस विषय में आपको कुछ मन्त्र सुनाऊं, ताकि आप सब को वेद के निर्णय का ज्ञान होजावे। सुनो—

(१) * य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम। त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ ९४॥ (ऋ० १। ५३। ११)

हे ऐश्वर्यप्रद प्रभो (ये) जो हम (उत्-ऋचि) उत्तम वेद ज्ञान में (निपुण होते हुए) (ते)तेरे (सखायः)मित्र (देव-गोपाः) विद्वानों द्वारा रक्षण को प्राप्त तथा (शिवतमाः) अत्यन्त आनन्द से युक्त (असाम) हों, ऐसे हम (त्वया) तेरे द्वारा (सुवीराः) अति वीर होते हुए, (द्राघीयः) दीर्घतर (आयुः) आयु को (प्रतरम्) खूब अच्छी तरह (दधानाः) धारण करते हुए (त्वाम्) तेरी (स्तोषाम) भक्ति करते रहें।

सच्चे ज्ञान के विना सुमार्ग नहीं मिल सकता, प्रत्युत मिला हुआ मार्ग भी दिखाई देना बन्द होजाता है। जब तक त्यागी विद्वान, सच्चे देवता हमारे मध्य में निवास करते हुए हमारी रक्षा

---

* सव्य आंगिरस ऋषिः, इन्द्रो देवता, छन्दः सतः पंक्तिः।

न करें, हमें इस पवित्र ज्ञान की भी प्राप्ति नहीं हो सकती। यही तो कारण है कि जब से वेद विद्या के प्रचारकों, भू-देवों का अभाव हुआ है, हमारी आर्य-जाति का पांव कहीं टिका ही नहीं। सहस्रों वर्षों से हम धक्के खा रहे हैं और क्या जाने अभी और ऐसे ही कब तल चलना होगा।

हमारा पुरुषार्थ और परिश्रम अब इसी लक्ष्य को सामने रखकर होना चाहिए कि हमारे पास इस प्रकार के अनुभवी, विद्वान् फिर उपस्थित हों। इसका स्वाभाविक फल यह होगा कि हम प्रभु के मित्र बनने का यत्न करते हुए, आनन्द को लाभ कर सकेंगे। आर्य और अनार्य सभ्यताओं में यह मौलिक भेद है। आर्य सब सुख को तुच्छ समझते हैं, यदि उस में प्रभु भक्ति का अमृत न बहता हो। शेष सारे सुख थोड़े दिन रहने वाले परिवर्त्तन को प्राप्त होने वाले अस्थिर हैं। प्रभुभक्ति का आनन्द सदा रहने वाला, नित्य बढ़ने वाला, स्थिर होता है। दूसरे सुखों के आगे पीछे दुःख हो सकता है। इस आनन्द में शोक, दुःख तथा ग्लानि का नाम भी नहीं होता।

जिन्हों ने प्रभु के साथ मित्रता गांठी है, वह सदा वीरता से शोभित रहते हैं। सारा संसार उनके विरुद्ध हो जावे, उनका दिल नहीं दहलता। उनकी आयु न केवल लम्बी होती है, वरन सब प्रकार के विस्तार को प्राप्त करती हुई व्यतीत होती है। उस लम्बी आयु का न होना ही अच्छा है, जिसमें मनुष्य स्वतन्त्रता से हीन होकर, खाट तोड़ने के अतिरिक्त और किसी काम का न रहे। वेद दीनता की जड़ पर सदा कुल्हाड़ा चलाता हुआ ही

प्रसन्न रहता है। आर्यों की नित्य प्रार्थना में इस आशय से युक्त एक मन्त्र तुमने स्मरण किया ही होगा । क्यों मायाराम, वह कौन सा मन्त्र है?

मा०—महाराज उपस्थान मन्त्रों के अन्त में गायत्री से पूर्व यह भाव पाया जाता है।

महा०—मैं बहुत प्रसन्न हूं। तुम्हारा ज्ञान और जीवन उन्नत हो रहा है। बहुत अच्छा। तो ऐसे ही इस मन्त्र में दीर्घ आयु को अच्छी तरह भोगने का उपदेश है। सदा प्रभु की भक्ति करते रहने से और सत्संग से ज्ञान प्राप्त कर, उसपर आचरण करने से इस फल का लाभ होता है।

(२) * भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा वयम्। जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ९५ ॥ (ऋ० १। ९४। ४)

(अग्ने) हे अग्ने, (वयं) हम (पर्वणा पर्वणा) प्रत्येक पर्व पर (चितयन्तः) अच्छी तरह जानते जनाते हुए, अथवा चयन करते हुए (ते) तेरे लिए (इध्मं) इन्धन (भराम) लाते रहें, और (हवींषि) आहुतियों को (कृणवाम) करते रहें। (धियः) बुद्धियों को (प्रतरं) उत्तमता से (जीवातवे) जीवन के लिए (साधय) बढ़ा, (सख्ये) मित्रता में (तव) तेरी (मा रिषाम) हमें कोई कष्ट न होगा।

नित्य यज्ञों को करते रहो। मास में दो पर्व होते हैं। पूर्णमासी और अमावस्या। इन्हें पर्व इसलिए कहते है कि इनके

* कुत्स ऋषिः, अग्निः देवता, निचृज्जगती छन्दः।

व्यतीत होते जाने से समय भी पूरा होता जाता है। अतः यह पर्व तुम्हारे अपने जीवन के भी जोड़ हैं। इस बातका ध्यान करते हुए, ज्ञान-पूर्वक यज्ञ-अग्नि को प्रकाशित करो और आहुतियां डालो।

पर यहीं समाप्त न कर दो। प्रकाश से प्रकाश-स्वरूप प्रभु का ध्यान करो और उस से बुद्धि की वृद्धि के लिए प्रार्थना करो। भौतिक अग्नि उस का एक चिह्नमात्र है। इस के प्रकाश से सदा युक्त रहो। जहां उस पिता का यह भौतिक चिह्न भी साथ देता है, वहां रोग नहीं आता। प्रभु की मित्रता और उसके भौतिक देवताओं का ठीक २ प्रयोग आयु को बढ़ाने वाले और जीवन के देने वाले हैं। अगले मंत्र में और भी स्पष्ट रीति से यह सब बातें समझायी गयी हैं:—

(३) * स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः प्र तिरेह देव। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिंधुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ९६ ॥   १। ९४। १६ ॥

(अग्ने) (स त्वम्) इस प्रकार का हमारा मित्र तू ही (सौभगत्वस्य) ऐश्वर्य के मार्ग का (विद्वान्) जानने वाला है। (देव) (अस्माकं) हमारी (आयुः) का (इह) यहां (प्रतिर) विस्तार कर। (नः) हमारी (तत्) इस कामना को (मित्रः) प्रातः का सूर्य (वरुणः) सायं का सूर्य (अदितिः) भौतिक पदार्थों में सदा बना रहने वाला अखण्ड नियम (सिन्धुः) समुद्र (पृथिवी) (उत) और (द्यौः) (मामहन्ताम्) पूर्ण करते रहें॥

---

* छन्दः त्रिष्टुप्, शेष पूर्ववत्।

आयु बढ़ाने के लिये प्रभु की इन विभूतियों को समझना और अपने लाभ के लिये उपयोग करना आवश्यक है। इन पदार्थों का हमारे शरीर के साथ क्या सम्बंध है, यह एक पृथक् और लंबा प्रकरण है। यहां तो यह बतलाना ही अभिप्रेत है कि वेद न केवल यही उपदेश करता है कि आयु बढ़ानी चाहिये, वरन मार्ग की ओर भी इशारा करता है। यह आगे ऋषियों और अनुभवियों का कार्य रह जाता है कि वह इन विद्याओं का जनता के कल्याण के लिये विस्तार करें। और प्यारो, आयुर्वेद-विद्या के धुरन्धर विद्वानों ने इन संकेतों को अच्छी तरह मांझा है। पर्वतों के निर्जन, निर्मल वन और समुद्र-तट जानते हैं, किस तरह प्रतिवर्ष वह सहस्रों नर नारियों को मृत्यु के मुख से, मानो, छुड़ा लाते हैं।

(४) * तुचे तनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे।
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥९७॥ ऋ० ८।१८।१८।

(आदित्यासः) हे आदित्यो (सु-महसः) भारी तेज वालो, (नः) हमारे (तुचे, तनाय) पुत्रों और पौत्रों के (जीवसे) अच्छी तरह जीने के लिये (आयुः) को (तत्) फिर (सु) खूब (द्राघीयः) लम्बा (कृणोतन) करो॥

सूर्य की किरणों का शरीर पर विचित्र प्रभाव है। सोई हुई, मरी हुई शक्तियां जाग पड़ती हैं। प्यारो, सूर्य के प्रकाश की महिमा को तुम अनुभव नहीं करते हो, क्योंकि तुम्हारे यहां

---

* इरिम्बिठिः काण्व ऋषिः, आदित्यो देवता, उष्णिक् छन्दः।

यह सदा बना रहता है। उन देशों के रहने वाले इस के लिए तरसते हैं, जहां दोपहर को भी कुहार के समान आधी रात बनी रहती है। सूर्य भगवान् की पवित्र रश्मियां सारे संसार को पवित्र बनाती हुईं, पशु, पत्नी, जल-चर, स्थल-चर वनस्पति, औषधि, जड़ी बूटी सब जीव जन्तुओं को शुद्ध प्राणवायु प्रदान करती हुईं, आयु और जीवन प्रदान करती हैं।

इस मर्म को समझाने वाले भी वस्तुतः आदित्य हैं। उनका भी विद्या-तेज बड़ा भारी है। जिस जाति में यह आदित्य कम हो जाते हैं, वहां लोगों का जीवन दूभर हो जाता है। इनके मस्तिष्क से ही ज्ञान की रश्मियां निकल २ कर सब के मनों में प्रकाश करती हैं। जनता को स्वास्थ्य तथा सुखी जीवन लाभ करने के उपाय पता लगते हैं। सर्व प्रकार से प्रजा की उन्नति होती है।

अखण्ड व्रत-धारी, ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य के धनी भी आदित्य होते हैं *। उनका होना जाति के जीवन भण्डार का भरपूर होना है। उन की सब शक्तियों का विकास और सब बलों का विलास, उनकी अपनी तथा आने वाली संतति की आयु को लम्बा करते हैं। यह केवल प्रार्थना नहीं, साधन भी साथ बतलाये हैं। और यही वैदिक प्रार्थनाओं का गौरव है।

(५) † ये चिद्धि मृत्युबन्धव आदित्या मनवःस्मसि। प्र सू न आयुर्जीवसे तिरेतन ॥ ९८ ॥ ८। १८। २२।

---

* देखो, छान्दोग्य० उप० प्रपाठक ३, खण्ड १६, जिसमें पुरुष के ब्रह्मचर्य का पूर्णतया वर्णन है।

† ऋषि आदि पूर्ववत्।

(आदित्याः) हे पूर्वोक्त आदित्यो (हि) क्योंकि (ये चित्) जो सब हम (मनवः) साधारण मनुष्य (मृत्यु-बन्धवः) मृत्यु के पाश में बन्धे हुए (स्मसि) हैं, इस लिए (नः) हमारी (आयुः) को (जीवसे) जीने के लिए (सु-प्र-तिरेतन) अच्छी तरह से बढ़ाओ।

वस्तुतः हमें मृत्यु ने बांध रक्खा है। अज्ञान के कारण हम अमृत-स्रोत से विमुख ही रहते हैं, हम जो भी काम करते हैं, वह हमें दुर्बल ही बनाये जाता है। हमारे विवाहों की कुप्रथाएं, बाल-विवाह और दूसरे बुरे रिवाज, ख़राब खाना पीना, बुरा रहना सहना, व्यायाम आदि न करना यह व्याधियां आदित्य-पुरुषों के ही पुरुषार्थ से जा सकती हैं।

(६) * अप त्या अस्थुरनिरा अमीवा निरत्रसन् तमिषीचीरभैषुः। आ सोमो अस्माँ अरुहद्विहाया अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥ ९९ ॥ ऋ० ८। ४८। ११।

(विहायाः) बलवान् (सोमः) सोम (अस्मान्) हमारे ऊपर (आ-अरुहत्) पूर्ण प्रभाव पैदा करने लगा है, इस लिए (अनिराः) स्थिर (अमीवाः) रोग (त्या) वह सारे (अप-अस्थुः) दूर भाग रहे हैं, (तमिषीचीः) अन्धेरी वासनाएं (निः-अत्रसन्) कांपती हैं, (अभैषुः) भय-भीत हो गयी हैं, वस्तुतः अब हम वहां (अगन्म) पहुँच गये हैं, (यत्र) जहां पर जाकर मनुष्य (आयुः) (प्रतिरन्ते) बढ़ा लेते हैं।

तुम चाहोगे कि मैं सोम के विषय में कुछ बतलाऊँ। मेरी

---

* प्रगाथः काण्व ऋषिः, सोमो देवता, त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्रीवा लज्जा से झुकी जाती है। हमारे पूर्वज एक सर्वश्रेष्ठ ओषधि को जानते तथा प्रयोग किया करते थे। उस का आज कल ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया है। हाय, हमारा स्वार्थ हमारा पीछा क्यों नहीं छोड़ता? क्यों नहीं हमारे हरीतकी बहेड़ा और आमला कूटने वाले वैद्य हिमालय के एक २ पत्ते को टटोल डालते? और क्या हमारे डाक्टर महाशय करोड़ों रुपये प्रतिवर्ष कुनीन और क्लोरोफार्म के बदले में ही बाहिर भेज २ कर देश को कंगाल करते रहेंगे? उन का भला हो, उन्हों ने तो इस सोम के वर्णन को गपौड़ा ही समझ लिया है। कोई २ सुरा और भंग ही सोम बना बैठे हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि कोई अनुभवी, साधन-सम्पन्न, विज्ञान शास्त्री अपना समय इस परोपकार के कार्य में लगाना पसंद नहीं करता।

वेद उपदेश करता है कि सोम के सेवन से चिरस्थायी (Chronic) बीमारियां अपने स्थान से हिल जाती हैं और दुम दबाकर भागती हैं। रोग की दशा में मन की दशा भी अन्धेरी रात की तरह हो जाती है। रोग के दूर होते ही स्वास्थ्य के चन्द्र का प्रकाश होजाता है। सब अन्धेरा दूर हो जाता है। इस प्रकार से शरीर की शक्तियों को क्षीण करने वाले शत्रु–दल के दूर चले जाने से, मृत्यु को भी स्वागत करने वाला कोई पापी परमाणु हम में नहीं रहता।

इस भौतिक सोम में भी इस शक्ति को पैदा करने वाला सब का प्रेरक, प्रभु, सच्चा सोम हमारे हृदय का ईश हमारे पास है। उसका सेवन सब मलिन वासनाओं और चिरकाल से जड़

पकड़े हुए पाप-रोगों को जड़ से उखाड़ फैंकता है। वह अमृत-रस है, जिसे पी लेने से मृत्यु दूर भाग जाती है। भक्ति तथा पुण्य जीवन से आयु को बढ़ाते हुए आनन्द से संसार में धार्मिक काम करते रहो।

(७) * मा नो हेतिर्विवस्वत आदित्याः कृत्रिमा शरुः।
पुरा नु जरसो वधीत् ॥१००॥ ऋ० ८। ६७। २०॥

(आदित्याः) हे आदित्य विद्वानो! ऐसा यत्न करके हमारे मध्य में ज्ञान का विस्तार करो कि जिसे पाकर हम दीर्घ आयु को धारण करते हुए, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकें। (विवस्वतः) सूर्य की (कृत्रिमा) बनावटी (शरुः) हिंसा करने वाली (हेतिः) हनन साधन तलवार (नः) हमें (नु) निश्चय करके (जरसः पुरा) बुढ़ापे से पूर्व (मा वधीत) मत वध करे।

सूर्य्य दिन रात्रि का चक्र चलाकर सारे पदार्थों की आयु को एक प्रकार से क्षीण कर रहा है। पर, इस क्षय के भी कई प्रकार हैं, और उन में बड़ा भेद है। ऋतु के अनुसार, सूर्य की किरणों से पक कर फल भूमि पर गिर कर समाप्त होजाता है। उसके दिन पूरे होगए। दूसरा फल तोते की चोंच की चोट से डाली से अलग होकर अपने दिन समाप्त कर देता है। दिन दोनों के समाप्त होते हैं, पर इन समाप्तियों में भेद है। एक ठीक समय पर होने वाली, स्वाभाविक है। दूसरी अचानक होने वाली, दुःख देने वाली, हिंसा से युक्त, बनावटी है।

---

* मत्स्यः सामद ऋषिः, आदित्यो देवता, गायत्री छन्दः।

वेद का यह उपदेश है कि विद्वानों के परिश्रम से समाज में अकाल मृत्यु का दुःख न रहे। माता पिता के देखते २ उनके योग्य कमाऊ पुत्र न चल बसें। कोई युवती जीवन में प्रवेश करते ही सुहाग से हीन न हो जावे। बच्चे बूढ़े होकर पकने के लिए पैदा हों। यौवन यक्ष्मा (तपदिक) का भोजन न बने। अपमृत्यु के भयानक परिणामों को हम न देखें। क्या स्पष्ट सन्देश है!

(८) * मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥ १०१॥　　ऋग्० १०।१८।२।

हे (यज्ञियासः) यज्ञ में श्रद्धा-पूर्वक लगने वालो (यत्) जो तुम अपने पुरुषार्थ से (मृत्योःपदम्) मृत्यु के मार्ग को (योपयन्तः) बन्द करते हुए (द्राघीयः आयुः) दीर्घतर लम्बी आयु को (प्रतरं दधानाः) अच्छी तरह धारण करते हुए (ऐत) प्राप्त होते हो, वह तुम सब (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा तथा धन के द्वारा फूलते फलते हुए (शुद्धाः) शुद्ध और (पूताः) पवित्र (भवत) हो जाओ।

(९) † इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य। प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥ १०२॥　　ऋ०१०।१८।३॥

(अद्य) आज (नः) हमारी (देवहूतिः) प्रभु की विभूतियों,

---

* संकुसुको यामायन ऋषिः, मृत्युः देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

† ऋषि आदि पूर्ववत्।

अग्नि, आदि का ठीक २ प्रयोग और विद्वानों की इन पदार्थों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूजा का करना (भद्रा) सफल, कल्याण से युक्त हो गया है, क्योंकि हमारे मध्य में (इमे जीवाः) यह जीते जागते पुत्र पौत्र आदि (मृतैः वि-आ-ववृत्रन्) मृत्यु को प्राप्त पदार्थों से पृथक् हो चुके हैं। अब अकाल मृत्यु इन पर झपटा नहीं मार सकता। इसीलिए हम प्रसन्न होकर लम्बी आयु को धारण करते हुए, (नृतये हसाय) आनन्द से नाचने और हंसने के लिए (प्राञ्चः अगाम) उन्नति करते हुए आगे २ बढ़ते हैं।

इन मन्त्रों में आर्य जीवन के आशा-पूर्ण चित्र को कितने बल के साथ वेद ने प्रकट किया है। क्या इसमें दिन काटने की बीमारी का कोई गंध भी प्रतीत होता है। तुम संसार में रोने के लिए नहीं आए। तुम्हारा जन्म, रोगों से पीड़ित, निर्धन, कंगले, कायर और कृपण रहने के लिए नहीं हुआ। तुम्हारा जीवन आनन्द से इतना भरपूर रहे कि तुम इसके द्वारा कूद २ कर और उछल २ कर चलो। बल और उत्साह तुम्हारे चित्त में उमड़ २ कर ठाठें मारता हो। आर्य कहां और भीरु होना कहां? तुम्हारे पूर्वजों ने वस्तुतः मृत्यु को जीतने वाले वीर पैदा किये थे, जो शर-शय्या पर पड़े प्राणों को छः मास पर्यन्त निकलने नहीं देते थे।

पर, स्मरण रक्खो यह बल यूंही नहीं आ जाता। इसके लिये वेद, अन्तः करण की प्रसन्नता और चित्त की शुद्धि पर बड़ा बल दे रहा है। क्षण २ अपनी चाल का ध्यान करो। आगे ही आगे

पग धरते चलो। अपने निशाने की ओर ही आंख जमाये रक्खो। न बाएं देखो, न दाएं देखो और न गला मोड़ कर पीछे देखो। असावधानों का यज्ञ पूरा नहीं होता। उन की "देव-हूति" सफल नहीं होती। उन का जीवन सुख तथा ऐश्वर्य से शून्य हो जाता है। वह अपने आप को भले बुद्धिमान् समझते हों, पर वास्तव में वह जिस शाखा पर बैठे हैं, उसी को काट रहे हैं। धरती उनके पांव के तले से निकली जा रही है। देखना, प्यारो, तुम ऐसे न बनना। अपने वैदिक पूर्वजों के साथ अपना इतिहास जोड़ दो। बीच वाले अन्धकार को भुला दो। और सुनोः—

(१०) * यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथ ऋतव ऋतुभिर्यन्ति साधु। यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ १०३ ॥ ऋ० १० । १८ । ५

(धातः) हे सकल संसार के धारण करने वाले प्रभो, (यथा) जैसे (अहानि) दिन (अनु-पूर्वम्) क्रम से एक दूसरे के पीछे (भवन्ति) होते हैं, (यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुएं (ऋतुभिः) ऋतुओं से जुड़ी हुई (साधु यन्ति) नियम-पूर्वक व्यतीत होती हैं, (तथा) ऐसे ही (एषाम्) इन मनुष्यों की (आयुः) को (कल्पय) बनाओ, (यथा) जिस से कि (पूर्वम्) पहिले उत्पन्न हुए २ बूढ़े को (अपरः) पीछे आने वाला अकाल मृत्यु के कारण (न) (जहाति) छोड़ कर चल बसे।

सारा संसार अपनी मर्यादा का पालन करता है। सोम

---

* ऋषि पूर्ववत्, धाता देवता, निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः।

के पीछे मंगल और शनि के पीछे रवि का दिन ही आता है। वसन्त के पीछे गर्मी और शरद् ऋतु के पीछे शीत ही होता है। तो फिर क्या कारण है कि मनुष्य बुद्धि से युक्त होकर अपनी मूर्खता से सृष्टि नियमों को कुचलने का साहस करे? इस लिये सदा प्रभु से प्रार्थना किया करो कि बुद्धि सीधे मार्ग पर चलती रहे, ताकि मनुष्य अकाल-मृत्यु के चीते के मुख से बचा रहे, इसी में सब संसार का हित है।

(११) * आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ। इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घमायुः करति जीवसे वः ॥ १०४ ॥ ऋ०१०।१८।६।

(यति स्थ) तुम जितने भी हो, सब (अनुपूर्वम्) पिता पुत्र-क्रम से (यतमानाः) पुरुषार्थ करते हुए (जरसम्) वृद्ध दशा को (वृणानाः) स्वीकार करते हुए (आयुः) को (आरोहत) पूर्णतया धारण करो। (इह) यहां पर (सजोषाः) सदा साथ रहने वाला (त्वष्टा) सब को रचने वाला प्रभु (वः) तुम्हारी (आयुः) को (जीवसे) जीने के लिये (दीर्घम्) लम्बा (करति) करता रहे।

जब तक पिता और पुत्र क्रम से यत्न-शील होकर मर्यादा का पालन करते रहते हैं, आलस्य तथा प्रमाद का परित्याग कर अच्छे २ कार्यों में प्रवृत्ति स्थिर रखते हैं, तब तक कल्याण की वृष्टि होती रहती है। ऐश्वर्य भी बढ़ता है। और उसे भोग करने का बल भी बढ़ता है। प्रभु के नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है।

---

* ऋषि पूर्ववत्, त्वष्टा देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

(१२) * ऊर्जो नपात्सहसावन्निति त्वोपस्तुतस्य वंदते वृषा वाक्। त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥ १०५ ॥　　ऋ० १० । ११५ । ८ ॥

हे अग्ने (ऊर्जः नपात्) बल की रक्षा करने वाले (सहसावन्) शक्ति से युक्त (इति) इस प्रकार (उप-स्तुतस्य) तेरी सेवा में पहुँचे हुए (उप-स्तुत) की (वृषा वाक्) कामनाओं को पूर्ण करने वाली वाणी (वन्दते) नमस्कार करती है। (त्वाम्) तेरी (स्तोषाम) स्तुति करते हैं, (त्वया) तेरे द्वारा (सुवीराः) अच्छी तरह वीर होकर (द्राघीयः) दीर्घतर (आयुः) आयु को (प्रतरं) अच्छी तरह (दधानाः) धारण करते हुए हम तेरी स्तुति करते रहें।

जैसा स्वरूप हमारे ध्यान में सदा रहता है, वैसे ही हमारा स्वभाव बनता है। इस लिए वेद का उपदेश है कि यदि आयु को बढ़ाना चाहते हो, तो परमात्मा को सदा इस भाव से स्मरण किया करो कि वह सब बलों का भण्डार है और सब शक्तियों का मूल आधार है। उस के ही ध्यान करने से चित्त का बल बढ़ेगा और सृष्टि-नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने की ओर रुचि बढ़ेगी। सब भौतिक देवता तुम्हारे सहायक बन जावेंगे। उन के तेज से तुम तेजस्वी हो जाओगे। सारे विश्व में तुम्हें आनन्द ही आनन्द का अनुभव होगा। दुःख और शोक तुम्हारे पास नहीं फटक सकेगा। तुम दीर्घजीवी

* उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य ऋषि, अग्निर्देवता, छन्दः पादनिचृत् त्रिष्टुप्।

परोपकार से सब का कल्याण करते हुए और प्रभु-प्रेम के पात्र बनते हुए उन्नत ही होते रहोगे।

(१३) *दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव। मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥१०६॥
अथर्व० २।४।१॥

(सदा-एव) सदा ही (दक्षमाणाः) उन्नति करते हुए (अरिष्यन्तः) स्वस्थ रहते हुए (बृहते रणाय) बड़े आनन्द की प्राप्ति के लिये (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु के लिये (विष्कंध-दूषणम्) विष्कन्ध रोग को दूर करने वाली (जंगिडम्) जंगिड-नामक औषधि की (मणिम्) गट्टी (बना कर सूत्र में पिरो कर कलाई या शरीर के अन्य विशेष भाग के ऊपर) (वयम्) हम (बिभृमः) धारण करते हैं।

इस मंत्र में जंगिड नाम की औषधि के परिणामों का वर्णन किया है। इन में से एक आयु-वृद्धि भी है। यहां फिर मुझे आयुर्वेद के नाम पर आजीविका पैदा करने वालों का चित्र मन में खींच कर दुःख होता है। भारतवासियों ने इन सहस्रों वर्षों में विद्या के तत्त्वों को भुलाने का ही काम किया है। अपने नये नाम रख कर, एक ही पदार्थ को भिन्न २ नाम देकर, गुप्त रीति से विद्या को छिपा २ कर, हमारे वैद्य जहां आयुर्वेद की बढ़ती को रोकते हैं, वहां लोगों को लूट कर और अपना उल्लू सीधा करने में डाक्टरों के भी कान कतरते हैं।

---

* अथर्वा ऋषि, जंगिडो देवता, छन्दः विराट्प्रस्तारपंक्तिः।

सत्य०—महाराज, कई वैद्य तो बड़े धर्मात्मा हैं।

महा०—बीज नाश थोड़ा हो गया है। कुछ डाक्टर भी इसी प्रकार बड़े साधु स्वभाव और परोपकारी हैं। मेरा उन की ओर संकेत न समझो। उन की संख्या बहुत थोड़ी है। जिन को मैं देखना नहीं चाहता, वह गली २ में बीस पड़े हैं। परमात्मा ही हमें इन के हाथों से बचावे। अस्तु, सुनो।

* (१४) दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥१०७॥

अथर्व० ४। १०। ४॥

(दिवि-जातः) द्यु लोक में पैदा हुआ २ (समुद्र-जः) समुद्र में उत्पन्न हुआ २ (सिन्धुतः) सिन्धु से (परि-आभृतः) लाया हुआ (हिरण्यजाः) सुनहरी प्रकाश से पैदा हुआ २ (शंखः) शंख (सः) वह (नः) हमारे लिये (आयुः-प्रतरणः) आयु के बढ़ाने वाला (मणिः) है।

अभी जंगिड की गट्टी बना कर बांधने के लाभ तुम ने सुने। अब शंख की गट्टी के विषय में भी आयु के बढ़ाने का वर्णन किया है। यह शंख कैसा होना चाहिये। क्या यह सोने में मढ़ा हुआ हो, या इस की रंगत ही सुनहरी हो इत्यादि प्रश्नों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है। मैं आयुर्वेद बहुत कम जानता हूँ। और वैद्य जिस तरह इस प्राचीन ऋषियों की विद्या का उद्धार करने का यत्न कर रहे हैं, वह तुम से छिपा नहीं। इस शोचनीय दशा में हम इस उपदेश

---

* अथर्वा ऋषिः, शंखमणिः देवता, अनुष्टुप् छन्दः।

से क्या ग्रहण कर सकते हैं, यह भी मैं ठीक २ नहीं कह सकता। पर हां, आज आपको वेद के मन्त्र, और भाव ही सुना रहा हूं। यद्यपि हमारी अवस्था इस समय ऐसी वैसी ही है, तो भी अपने पूर्वजों का ऊंचा आदर्श सामने ही रहना चाहिये। कौन कह सकता है कब किस के मन में सच्चा उत्साह पैदा हो जावे और वह जातीय हित की कामना से प्रेरित होकर इन परम रहस्य की बातों के अन्वेषण में लग जावे और कुछ न कुछ हमारे लिए इस भण्डार में से निकाल ही लावे।

(१५) * अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशंभूः। स नः पावको द्रविणे दधात्वा-युष्मन्तः सहभक्षाः स्याम ॥१०८॥ अथर्व० ६। ४७। १॥

(सः) वह सब लोगों में प्रसिद्ध (वैश्वानरः) सब लोगों का हितकारी (विश्वकृत्) सब का रचने वाला (विश्व-शंभूः) सबको शान्ति देने वाला (पावकः) पवित्र करने वाला (अग्निः) प्रकाश-स्वरूप अग्नि (नः) हमें (प्रातः सवने) जीवन यज्ञ के प्रथम भाग में (पातु) रक्षा करे अर्थात् अपने प्रकाश से हमें ब्रह्मचर्यादि उत्तम मार्गों पर चलावे, (द्रविणे) धन सम्पत्तिमें (दधातु) पुष्ट करे (आयु-ष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले (सह-भक्षाः) मिल बैठ खाने वाले (स्याम) हों।

परमात्मा की कृपा से ही यह मिल बैठने वाला प्रकाश मिल सकता है। छुआछूत के भूत ने प्यारो, तुम सब लोगों को अति

---

* अंगिरा ऋषिः, अग्निः देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

संकुचित बना रक्खा है। भोजन मुख्य है, बनाने वाला मुख्य नहीं है। परस्पर प्रेम बढ़ाने के लिये एक दूसरे के प्रति समानता का व्यवहार ही श्रेष्ठ साधन है। जब एक आदमी किसी के हाथ का खाना पसन्द नहीं करता, तो उस का अभिमान बढ़ा हुआ समझो। मर्यादा से पार गया हुआ गर्व गिरा देता है। चौका लगाते २ हमने सारे राज्य, पराक्रम, ऐश्वर्य, सुख तथा बल पर चौका फेर दिया है। वेद कहता है कि प्रसन्नता-पूर्वक मिल कर खाना पीना भी आयु को बढ़ाने में सहायक होता है।

मा०—महाराज, क्या सभी भंगी, चमार के हाथ का खा लें? यह तो बड़ा अनर्थ है।

महा०—अरे भोले, क्या वह तुम्हारे भाई नहीं हैं। वह तुम्हारे लिए ही तो दिन रात काम करें, फिर उसी काम के कारण पतित क्यों बनें? भला, तुम क्यों पतित न समझे जाओ, जो यह काम कराते हो?

मा०—महाराज, मैं कैसे कराता हूं?

महा०—अरे, अपने मल मूत्र को अपने जैसे रूप रंग तथा आकार वाले मनुष्य के सिरपर लादने का तुम्हें क्या अधिकार है? वह उठाने वाला चिरकाल से अविद्या में डूबा हुआ है। उसकी निर्धनता तथा मूर्खता उसे अपने कार्य में बुराई समझने नहीं देती। पर, क्या तुम्हारा कर्तव्य नहीं है कि एक प्राणी को, जो तुम्हारी तरह मनुष्य ही है, इस पशु पन के जीवन से ऊपर उठाओ? तनिक इनमें विद्या-प्रचार करो तो सही? झट इन्हें समझ आने लगेगी कि रोटी कमानेके सौ और सुथरे उपाय भी हैं।

मा०—फिर तो यह इस काम को छोड़ देंगे। और सब को कष्ट होगा ?

महा०—ठीक है। यह स्वार्थ ही है, जो घोर अत्याचार कराता है। क्यों न तुम लोग अपना मल मूत्र आप उठाकर फैंको ? क्यों न तुम लोग विज्ञान में उन्नत होकर, अपनी शुद्धि के और अच्छे साधन सोचो ? यह कष्ट का विचार दूर होजावेगा, जब तुम इस प्रकार सोचना आरम्भ करोगे।

मा०—महाराज, हमारे पूर्वज इनके हाथ का क्या खा लेते थे ?

महा०—वह इतने मूर्ख न थे कि इस प्रकार के कार्यों के लिए मनुष्यों को पतित करें। वेद, उपनिषद, रामायण तथा महाभारत में आजकल के भंगी का नाम ही नहीं पाया जाता। पर, मैं जिस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं वह अवश्य हर एक के बने हुए खाने को खाने की नहीं है। मेरा अभिप्राय तो यह है कि व्यर्थ घृणा का भाव दूर कर देना चाहिये। मिथ्या ऊंच और नीच के भेद को मिटा कर जब सब भाई २ बनकर रहने लग जावेंगे, तो शेष सब बात स्वास्थ्य, पवित्रता आदि के विचारों के अनुसार निश्चित होती चली जाती है। भूल को ही ठीक करने का यत्न करना चाहिए। अस्तु, दूसरे मन्त्रको सुनिये।

* (१६) विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः। आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ १०९ ॥ ॥—२ ॥

---

* अंगिरा ऋषि, विश्वेदेवा देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

(विश्वे) सारे (देवाः) परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित विभूति वाले पदार्थ (मरुतः) सर्वत्र विचरने वाले वायु-रूप पदार्थ (इन्द्रः) विद्युत आदि ऐश्वर्यप्रद पदार्थ (द्वितीये सवने) जीवन यज्ञ के दूसरे (अस्मिन) इस भाग में (अस्मान्) हमें (न जह्युः) न छोड़ें। (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयु वाले हम (एषां) इनके (प्रियम्) गुणों को (वदन्तः) गाते हुए (देवानाम) देवताओं की (सुमतौ) सहायता को (स्याम) प्राप्त कर सकें।

जीवन का दूसरा भाग विस्तार का समय है। सूर्य चन्द्र, वायु तथा दूसरी तेज तथा शक्ति से युक्त सत्ताओं के सहारे से बल को पूर्णतया प्राप्त करते हुए दीर्घ आयु को लाभ करो। इन से लाभ उठाते हुए इनके गुण दूसरों को सुनाते रहो, ताकि वह भी वैसा ही करें और सुखी तथा चिरंजीवी होसकें।

* (१७) उपप्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्। अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥११०॥ अथर्व० ७।३२।१।

(प्रियम्) प्यारे (पनिप्नतम्) अत्यन्त स्तुति-योग्य रचनाओं के रचने हारे (युवानम्) अखण्ड (आहुति-वृधम्) श्रद्धा तथा दान को बढ़ाने वाले प्रभु की शरण में (नमः) नमस्कार (बिभ्रतः) करते हुए (उप-अगन्म) हम उपस्थित हुए हैं। (मे) हमारा (दीर्घम् आयुः) लम्बी आयु (कृणोति) करता रहे।

प्रभु का भक्त दीर्घ आयु को भोगता है। वह भगवान् की विचित्र सृष्टि में अटल नियमों को काम करते हुए देखता है और अपने प्रियतम का प्यार उसे भी उनका पालन कराता

---

* ब्रह्म ऋषिः, आयुष्यं देवता, अनुष्टुप् छन्दः, ऋग्वेद में सोमो देवता।

है। वह बाधा-रूप होकर यहां नहीं रहता, वरन अग्नि, वायु आदि के समान संसार का उपकार करता हुआ उनका ही भाई बनकर प्रभु की विभूतियों का प्रकाशक हो जाता है। वह वस्तुतः कह सकता है।

* (१८) सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥ १११ ॥ अथर्व० ७। ३३। १॥

(मरुतः) मरुत्-गण (मा) मुझे (सं-सिञ्चन्तु) सुख से युक्त करें, इस तरह (पूषा) सब को पुष्टि देने वाली प्रभु की विभूति, (बृहस्पतिः) लोक लोकान्तरों का पालन करने की प्रभु-शक्ति और (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, इन शक्तियों में से प्रत्येक (मा) मुझे प्रजा तथा धन से युक्त करे और दीर्घ आयु करे।

वह क्यों न करेंगे? इस प्रकार का मनुष्य तो उनका भाई बन गया है। उनकी दिव्य सभा का सभासद् चुना जा चुका है। वह प्रभु की सब विभूतियों में और सब विभूतियों को अपने हृदय में प्रकाश करता हुआ पाता है। उस के शरीर का पतन शीघ्र नहीं होना चाहिए। यही तो कारण है कि वनों और अन्य खुले स्थानों में शुद्ध जल और वायु का सेवन करने वाले, सूर्य के प्रखर प्रकाश में स्नान करने वाले, चन्द्र की चान्दनी में प्रभु-भक्ति की चान्दनी से अपने चित्त चकोर को रिझाने वाले योगियों और महात्माओं की लम्बी आयु सुनने में आती है।

---

* ब्रह्म ऋषि, विश्वेदेवा देवता, पथ्यापंक्तिः छन्दः।

साधारण संसारी लोग इन सत्पुरुषों का वर्णन करते हुए आश्चर्य किया करते हैं। वाह २ करते हैं। पर यह कभी नहीं देखते कि उनकी दीर्घ आयु की नींव में क्या रक्खा है। वह शायद् यह विचार कर और भी विस्मित होंगे कि हम सब उसी तरह से अपनी शक्तियोंको बढ़ाते हुए सैकड़ों वर्षों तक जी सकते हैं। प्यारो, यह विश्वास रक्खो कि सबसे बड़ी ओषधि यह भक्ति ही है। इसके होने पर ही दिव्य ओषध भी हमारी सहायता ठीक २ करती है। अच्छे २ वैद्य, भक्तोंके भक्तिभाव से ही प्रेरित हो कर उनके दांए बांए फिरते हैं। इस विषय में वेद का उपदेश सुनिए।

* (१९) अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः † ॥ ११२ ॥　　　　यजुर्वेद० २७। ९॥

(अग्ने) हे प्रकाश-स्वरूप, (बृहस्पते) बड़े से बड़े लोकों के पालन करने वाले (यद्) जब (यमस्य) मृत्यु के (अमुत्र भूयात्) दूसरे लोक में लेजाने के भाव से (अभिशस्तेः) मारणात्मक संकल्प से (अमुंचः) हमें छुड़ा देते हो, तो (देवानां भिषजा) दिव्य वैद्य (अश्विना) सर्वत्र व्याप्त होने वाले (शचीभिः) अपनी

---

* ब्रह्म ऋषिः, आयुष्य देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

† दूसरे पाद में मुद्रित पाठ से पाठक यहां कुछ भेद देखेंगे। कुछ हस्त-लिखित पुस्तकों में यही पाठ है। और यही संगत भी है। कितने दुःख की बात है कि वेद अभी तक ठीक छप भी नहीं सका, प्रचार और अनुवाद तो दूर रहा।

शक्तियों से (मृत्युम्) मृत्यु को (अस्मत्) हम से (प्रति) दूर वापिस (औहताम्) फैंक देते हैं।

भक्तों का, भगवान् स्वयं सहायक होता है। सच्चा वैद्य सिरहाने खड़ा होकर रोगी के प्राण और अपान-रूप जीवन का किस तरह अपने आदर्श से शरीर में स्थापित कर देता है, यह आगे कहा है।

* (२०) सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्। शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥ ११३॥ ॥—२॥

वह वैद्य प्राण और अपान को क्या कहता है? (संक्रामतम्) मिलकर चलते चलो। (शरीरं) शरीर को (मा) मत (जहीतम्) छोड़ो। तदनन्तर रोगी को कैसे उठाता है? (ते), तेरे (प्राणापानौ) अन्दर आने तथा बाहिर जाने वाले वायु (इह) इस देश में (सयुजौ) मिले हुए (स्ताम्) रहें। (शतं शरदः) सौ वर्ष (जीव) जीता रहो, (वर्धमानः) सदा उन्नति करता रहो। (ते) तेरा (अग्निः) (गोपाः) रक्षक (अधिपाः) स्वामी तथा (वसिष्ठः) ऐश्वर्य के देने वाला है।

† (२१) आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्। अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरावेशयामि ते॥ ११४॥ ॥—३॥

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

† छन्दः भूरिक् त्रिष्टुप्, शेष पूर्ववत्।

(यत्) जो (ते) तेरी (आयुः) आयु (पराचैः) दूर (अतिहितम्) जा चुकी है, (अपानः प्राणः) आयु-रूप प्राण और अपान (पुनः) फिर (तौ) वह (आ-इताम्) वापिस आते हैं। (अग्निः) अग्नि-स्वरूप प्रभु (निर्ऋतेः) दुःखावस्था के (उपस्थात्) चुंगल से (तत् आ-अहाः) उसे लाया है, (तत्) उसे (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पुनः) फिर मैं (आवेशयामि) स्थापित करता हूं।

जो वैद्य परमात्मा का भक्त होता है, वह ऐसे ही कहेगा। "जो कुछ करता है, वह भगवान् ही करता है। स्वास्थ्य, आयु और सुख उसी के हाथ में हैं। वह देता है, मैं उसकी सहायता से उसी के दान को आगे करने वाला हूं।"

* (२२) मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥११५॥

॥ —४ ॥

(इमं) इसे (प्राणः) प्राण (मा) मत (हासीत्) छोड़े, (मा-उ) और न ही (अपानः) अपान (अव-हाय) छोड़ कर (परा-गात्) दूर चला जावे। (सप्तऋषिभ्यः) † सात ऋषियों के (एनं) इसे (परि-ददामि) सपुर्द करता हूं। (ते) वह (एनं) इसे (स्वस्ति) सुख-पूर्वक (जरसे) बुढ़ापे तक (वहन्तु) धारण करें।

दीर्घ जीना, प्यारो, उसी अवस्था में सुखदायी होसकता

---

* उष्णिग्गर्भार्षी त्रिष्टुप्, शेष पूर्ववत्।

† सात ऋषि=दो आंखें, दो कान, दो नासिकाएं और एक मुख, अर्थात् जीता जागता हुआ संसार के कार्यों के योग्य हो जावे।

है, जब मनुष्य पर-वश न हो जावे। उसकी सारी शक्तियां ठीक हों और उसके सारे अंग काम करते हों। दीन होकर, चुड़ २ कर मरने से तो एकाएक जीवन-तन्तु का टूट जाना ही अच्छा है।

* (२३) प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्। अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥११६॥ ॥—५॥

हे प्राण और अपान वायुओ, (इव) जैसे (अनड्वाहौ) बैल (व्रजम्) वाड़े में प्रवेश करके सुरक्षित होजाते हैं, वैसे ही तुम भी इस के शरीर में (प्रविशतम्) प्रवेश करो। इसकी दुर्बलता तथा रोग दूर हों। मरने के स्थान पर (अयं) यह (जरिम्णः) लम्बी आयु का (शेवधिः) भण्डार (अरिष्टः) रोग-रहित होता हुआ (इह) इस संसार में (वर्धताम्) बढ़ता रहे।

† (२४) आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते। आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥११७॥ ॥—६॥

(ते) तेरे (प्राणम्) प्राण-बल को (आसुवामसि) तुम्हारे अन्दर प्रेरित करते हैं। (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राज-रोग को (परासुवामि) दूर भगाता हूं। (अयम्) यह (वरेण्यः) वरणीय पूजा-योग्य (अग्निः) (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (आयुः) (दधत्) धारण करावे।

सज्जनो, वैद्य के लिए क्या उच्चभाव का प्रकाश है! आज

---

* अनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† ऋषि आदि पूर्ववत्।

हमारे खोटे कर्म हमें ऐसे वैद्यों के दर्शन नहीं होने देते । क्या तुम में से कोई समाचार-पत्र भी पढ़ता है ?

वस्तु०-हां, महाराज ! प्रति दिन पढ़ते हैं ।

महा०-कभी उस में अपने यहां के स्वास्थ्य तथा जन्म मरण का ब्योरा भी देखा ?

वस्तु०-अवश्य पढ़ता हूं । प्रति दिन दो या तीन मनुष्य तपदिक से मरते हैं । इसी तरह और रोगों से भी लोगों को कष्ट रहता है ।

महा०-और, यहां डाक्टर और वैद्य, हकीम कितने रहते हैं ?

वस्तु०-महाराज, क्या ठिकाना है ? जिधर देखो पांच २ हाथ के लम्बे चौड़े फट्टे लग रहे हैं । पत्रों में विज्ञापनों की भरमार है । यदि अधिक नहीं तो ५०० से कम तो न होंगे ।

महा०—हा प्रभो ! तू ही इस अनाथ जाति का नाथ है । तू ही इसे बचा । धर्मात्माओं की संख्या को बढ़ा । विद्वानों के हृदय में दया पैदा कर । कोई तो वेद के पवित्र सन्देश को सुन कर पिघल कर बहने लग जावे । प्रभो ! हमारे यहां वैद्य अहः सदा कहने वाले हों ।

* (२५) उद् वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥११८॥　॥ —७ ॥

(वयम्) हम सारे (तमसः) दुःखरूपी अन्धकार से (परि) पार होकर (उत्तमं नाकं) उत्तम सुख के शिखर पर (उद्-रोहन्तः)

---

* ऋषि आदि पूर्ववत् ।

ऊँचे चढ़ते हुए (देवत्रा) सब दिव्य शक्तियों के मध्य में (देवम्) प्रकाश करने वाले उत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्य को (अगन्म) प्राप्त होवें। नित्य परमात्मभानु की भक्ति करते हुए, दीर्घ आयु वाले होवें, और सूर्य आदि ज्योतियों से लाभ उठाते रहें।

* (२६) उत् त्वा द्यौरुत् पृथिव्युत् प्रजापतिरग्रभीत्।
उत् त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥ ११९॥

अथर्व ८। १। १७॥

वैद्य रोगी का उत्साह इस प्रकार बढ़ाता हुआ सत्य भावना तथा बलवान् ओषधियों की सहायता से उसे मृत्यु के मुख से छुड़ा लाता है। यह उपदेश इस मन्त्र से आरम्भ करके तुम्हें सुनाता हूं। अब अर्थ सुनोः—

हे रोग से पीड़ित मनुष्य, तू मत घबरा। द्यु-लोक पृथिवी और प्रजा के स्वामी जगदीश्वर ने (त्वा) तुझे (अग्रभीत्) पकड़ा हुआ है। तू स्थिर है। इन आश्रयों से बढ़कर और आश्रय कौन सा होसकता है? उसी प्रभु की कृपा से (सोम-राज्ञीः) सोम राजा की प्रजा-भूत (ओषधयः) ओषधियों ने (त्वा) तुझे मृत्यु से (अपीपरन्) पार कर दिया है।

(२७) अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः। इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि॥१२०॥ ॥—१८॥

(देवाः) हे देवताओ! (अयं) यह पुरुष (इह) यहां (एव) ही (अस्तु) रहे। (अयं) यह (अमुत्र) परलोक में (मा गात् इतः) यहां

* अब पांच मन्त्रों का ऋषि ब्रह्मा, आयुष्य देवता तथा अनुष्टुप् छन्द है।

से मत जावे। (इमं) इसे (सहस्रवीर्येण) अनन्त शक्ति वाले सोमादि-ओषधि-रस से (मृत्योः) मृत्यु से (उत) निश्चय करके (पारयामसि) हम बचा लेते हैं। अब यह पुराने अनियमों वाले जीवन का त्याग करता हुआ, तुम्हारे साथ मिल कर सारी स्वास्थ्य-दायक मर्यादाओं का पालन करता हुआ रहेगा।

(२८) उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः। मा त्वा व्यस्तकेश्यो ३ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥१२१॥ —१६॥

(उत) और (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (अपीपरम्) बचा लाया हूं। (वयः-धसः) बल देने वाले पदार्थ (संधमन्तु) तुम्हें शक्ति से भर दें। जैसे पम्प से वायु भरी जाती है, इसी तरह दुर्बल मनुष्य के शरीर में पौष्टिक पदार्थ बल को भर सकते हैं। (त्वा) तुझे (व्यस्तकेश्यः) बिखरे हुए बालों वाली नारियां और (अघरुदः) सिर पीट २ कर रोने वाले बन्धु-गण (मा) मत (रुदन्) रोवें। जब तक प्रभु की दी हुई शक्ति हमारे पास है, हमारा यत्न यह होना चाहिए कि कोई अपमृत्यु से न मरे। समय पर जब मौत आती है, तो उक्त प्रकार का शोक अस्वाभाविक है।

(२९) आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः। सर्वांग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च ते विदम् ॥ १२२ ॥ ॥—२०॥

(त्वा) तुझे (आ-अहार्षम्) वापिस लाया हूं, (अविदम्) प्राप्त कर चुका हूं, (पुनः) (आ-अगाः) तू आया है, (पुनः-नवः) पुनः नवीन होकर (सर्व-अंग) हे सम्पूर्ण अंगों वाले (सर्वं) सब (ते) तेरी (चक्षुः) आदि इन्द्रियों (च) तथा (सर्वम्-आयुः) पूर्ण आयु

को (अविदम्) लाभ कर लाया हूं। यह नहीं होसकता कि मेरे देखते २ तुम समय से पूर्व चल बसो। तुम्हारी शक्तियों को नये सिरे से स्थापित कर देता हूं।

(३०) व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं निदध्मासि ॥१२३॥ -२१॥

(वि-अवात्) श्वास चलने लग गया है। (ते) तेरी (ज्योतिः) चेतनता (अभूत्) जाग पड़ी है। (त्वम्) तुझ से (तमः) बेहोशी का अन्धेरा (अप-अक्रमीत्) दूर चला गया है। (त्वत्) तुझसे (मृत्युम्) मौत (निर्ऋतिम्) दुःख तथा (यक्ष्मम्) क्षय आदि रोग को (अप-नि-दध्मसि) दूर रखते हैं।

* (३१) आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते। असुं त आयुः पुनराभरामि रजस्तमो मोपगा मा प्रमेष्ठाः ॥१२४॥ अथर्व ८।२।१

(इमाम्) इस (अमृतस्य श्नुष्टिम्) अमृत की लड़ी को (आ रभस्व) ग्रहण कर, (अच्छिद्यमाना) लगातार (जरत्-अष्टिः) बुढ़ापे में भी भोग (ते अस्तु) तू भोगता रह। (असुम्) प्राण तथा (आयुः) आयु को (ते) तेरे लिए (पुनः) फिर (आ-भरामि) लाता हूं। (तमः-रजः) अन्धेरे लोक को (मा-उप गाः) मत प्राप्त हो, अर्थात् (मा) मत (प्रमेष्ठाः) मर। उस जीने का कोई लाभ नहीं, जो बुढ़ापे में या रोग में पीड़ित रहना हो। अन्धेरे और मौत के मार्ग को

---

* छन्द भूरिक् त्रिष्टुप्, शेष पूर्ववत्।

छोड़ कर अमृत की कर्म-मयी माला को पकड़ो। सदा पुरुषार्थ का जीवन पसन्द करो।

* (३२) जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वां हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥ १२८ ॥　　　　॥—२॥

(जीवताम्) जीवितों की (ज्योतिः) को (अभि-एहि) प्राप्त हो। (त्वाम्) तुझे (शतशारदाय) सौ वर्ष के जीवन के लिए (आ-हरामि) लाया हूं। (मृत्युपाशान) मृत्यु के जालों (अशस्तिम्) तथा बुरे भाव को (अव-मुंचन्) परे हटाते हुए (ते) तेरे लिए (द्राघीयः) अधिक लम्बी (आयुः) को (प्रतरम्) अच्छी तरह (दधामि) धारण करता हूं।

सत्य०—क्या हम मृत्यु से इस प्रकार मुक्त हो सकते हैं ?

महा०—नहीं, शरीर की अवस्था में सदा के लिये हम ऐसे ही नहीं रह सकते। इन मन्त्रों का सार यह है कि हमारे शरीर में जितनी उसकी बनावट के समय शक्ति है, उस को भी हम अपनी मूर्खता के कारण घटा लेते हैं। हमें यह चाहिए कि प्राणायाम आदि साधनों से दीर्घ आयु करें या कम से कम पूर्ण आयु, जो सौ वर्ष है, उसका तो ठीक २ भोग करें। हम अपने परिपक्व अनुभव से अपने देश तथा मनुष्य-समाज के लिए उपकारी बन कर रहें। हमारे दुःख से कोई दुःखी न हो।

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

* (२३) कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोपसेधामि सर्वान् ॥ १२६ ॥ ॥ —११ ॥

(ते) तेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (जरां मृत्युम्) बुढ़ापे और मौत को (दीर्घम्-आयुः) और लम्बी आयु को (स्वस्ति) कल्याण-युक्त (कृणोमि) बनाता हूं। (वैवस्वतेन) सूर्य के पुत्र=काल के (प्रहितान्) भेजे हुए (यम-दूतान्) सब को वश में करने वाले, रोग आदि दूतों को, (चरतः) जो सब ओर विचरते हैं, (अप सेधामि) दूर करता हूं।

† (३४) शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ १२७ ॥ ॥ —२१ ॥

हम (वैद्य यत्न करते हुए) (ते) तेरी आयु को बढ़ाते हुए (शतं) सौ (अयुतं) तथा उसके भी ऊपर अपरिमित (हायनान्) वर्षों तक करते हैं। इस आयु में तुम (द्वे युगे) दो जोड़े=पुरुष, स्त्री और उनके पुत्र, पुत्री (त्रीणि, चत्वारि) पोता पोती लगा कर तीन और उसके भी आगे पीढ़ी मिला कर चार जोड़े वाले होवो। इस प्रकार से सन्तान की वृद्धि तथा सुख का भोग करते हुए तुम जाओ। (इन्द्राग्नी) इन्द्र=विद्युत और अग्नि तथा (ते

---

* विष्टारपंक्तिः छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† सतः पंक्तिः छन्दः, शेष पूर्ववत्।

विश्वे देवाः) दूसरे सारे प्रसिद्ध देवता जीने की (अनु-मन्यन्ताम्) आज्ञा दें, (अ-हृणीयमानाः) तुम्हारे ऊपर क्रोध न करें।

जो मनुष्य सृष्टि-नियम के विरुद्ध आचरण करता है, आहार, विहार में संयम नहीं कर सकता, उसके ऊपर ही इन देवताओं का कोप हुआ करता है। जड़ अग्नि आदि के सामने माथा रखने से उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उन को समझ कर, उन से लाभ उठाओ। यही उनकी कृपा समझो।

* (३५) शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि। वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ १२८ ॥ ॥ —२२ ॥

हे मनुष्य, तुम्हारे लिए सारा वर्ष अच्छा, स्वास्थ्य-प्रद हुआ करे। (शरदे) शरद् ऋतुके (हेमन्ताय) शीत कालके (ग्रीष्माय) गर्मीके (त्वा) तुम्हें (परि-दद्मसि) सपुर्द करते हैं। उन में तुम्हें कोई रोग न हो। (वर्षाणि) वर्षा की ऋतु (तुभ्यं) तुम्हारे लिए (स्योनानि) कल्याण करने वाली हो, (येषु) जब (ओषधीः) सब ओषधियां (वर्धन्त) बढ़ती हैं। जिस ऋतु में सारे जगत् को जीवन-रस मिलता है, तृषार्त्त भूमि लम्बे २ घूएट भर कर जल अन्दर डालती है, पशु पक्षी निहाल हो जाते हैं, उस समय मनुष्य को भी चाहिए कि मौसमी ज्वर (malaria) की तय्यारी न करे, वरन् स्वस्थ रहते हुए उन्नति करने का यत्न करे।

---

* पुरस्ताद् बृहती छन्दः, शेष पूर्ववत्।

* (३६) मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्धरामि स मा बिभेः ॥ १२९ ॥
॥ —२३ ॥

मृत्यु (द्विपदाम्) दो पांओं वाले तथा (चतुष्पदाम्) चार पांओं वाले, अर्थात् सारे संसार पर (ईशे) शासन करता है। परन्तु गौओं और भेड़ों की तरह उसके दण्ड के भय से कांपते हुए क्यों मरो। (तस्मात्) उस (मृत्योः) मृत्यु से, जो (गोपतेः) गवाले की तरह लाठी घुमा २ कर सब को घेरना चाहता है, (त्वाम्) तुझे (उद्धरामि) ऊपर उठा देता हूं। (सः) ऐसा तुम (मा) मत (बिभेः) डर करो।

वैदिक घर का यह आदर्श होना चाहिए कि वहां मृत्यु का भय ही न हो। अपने समय पर जैसे अनाज पकता है और कट जाता है, ऐसे ही प्राणी आते और जाते रहें। यह सम्पत्ति वेद के अनुसार खुली प्रकृति के अन्दर रमण करने तथा उसके स्वामी परमेश्वर का आश्रय लेने से प्राप्त होसकती है।

† (३७) सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १३० ॥
॥ —२५ ॥

(यत्र) जहां जिस घर में (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदानुसार ज्ञान, ध्यान तथा आचरण (जीवनाय) दीर्घ तथा अच्छा जीवन पैदा

---

* अनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† ऋषि आदि पूर्ववत्।

करने के लिए (परिधिः) मर्यादा-रूप से (क्रियते) धारण किया जाता है, (वै) निश्चय जानो वहां केवल मनुष्य ही नहीं, वरन् (तत्र) वहां (सर्वः) सभी (गौः) (अश्वः) घोड़ा (पुरुषः) और (पशुः) दूसरा प्रत्येक पशु (जीवति) जीता रहता है । वैदिक-गृहस्थ सब को सुख तथा दीर्घ आयु के साधनों से युक्त करके अपने लिए हित-कारक परिस्थिति बना कर रहता है ।

वह जिधर आंख उठा कर देखे, उसे सुख ही सुख दिखाई देता है । सारा संसार मित्रता से युक्त होकर उसकी सहायता करता है । प्यारो, इस दिव्य सम्पत्ति के लिए नित्य प्रार्थना करते रहो । इससे बढ़कर और दूसरा आनन्द और ऐश्वर्य नहीं है । पर, प्रार्थना तब तक स्वीकार न होगी, जब तक उक्त प्रकार से अपने जीवन को प्रभु की सृष्टि का एक स्वस्थ अंग नहीं बनाते । ऐसा करके अवश्य प्रभु से यह वर मांगो ।

*** (३८) असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् । इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥१३१॥**

अथर्व ८ । ५ । १७ ॥

हे इन्द्र, ऐश्वर्यप्रद प्रभो ! (अधरात्) नीचे की ओर (नः) हमारे लिए (असपत्नम्) रुकावट डालने वाला कोई न हो । इसी तरह ऊपर और पीछे से हम निश्चिन्त रहें । हे शूर, सब पराक्रमों के ईश्वर ! (नः) हमारे लिए (पुरः) सामने (ज्योतिः) प्रकाश (कृधि) करो ।

---

*शुक्र ऋषि, इन्द्रो देवता, अनुष्टुप् छन्दः, ।

इस लिए प्रभु की माया से डरो नहीं। वह तुम्हारी सहायता करने के लिए सदा उद्यत रहती है। नदियां और पहाड़, सूर्य चन्द्र, बादल और बिजली सदा तुम्हारे संकेत की प्रतीक्षा करते रहते हैं। तुम मुंह तो खोलो, वह तुम्हें सब कुछ देने को तय्यार हैं। देखो, इस भाव को वेद किस तरह प्रकट करता है।

* (३९) वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः । वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १३२ ॥

॥ —१८ ॥

द्यु-लोक और पृथिवी (मे) मेरे लिये (वर्म) रक्षा के साधन हैं, (अहः) दिन रक्षा का साधन है, (सूर्यः) सूर्य रक्षा का साधन है, (इन्द्रः च-अग्निः च) विद्युत् और आग रक्षा के साधन हैं, (धाता) सब का धारण करने वाला प्रभु इस (वर्म) अनेक प्रकार के रक्षा के साधन को (मे दधातु) मुझ में धारण और पुष्ट करे।

सारी ही प्राकृतिक शक्तियां हमारे लिए हितकारी हैं। परन्तु विद्युत् और अग्नि तो समझो, हमारा जीवन हैं। इन के द्वारा जो हमारा हित होता है, वह बहुत अधिक है। जिन के पास इन बलों की पूंजी पूरी रहती है, उन की आयु और सम्पत्ति सदा बढ़ती रहती है। यह विचार अगले मन्त्र में वेद माता दे रही है।

† (४०) ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति

---

* बहुदेवताको मन्त्रः, शेष पूर्ववत्।

† जगतीगर्भा त्रिष्टुप् छन्दः, आयुष्यं देवता, ऋषि पूर्ववत्॥

विष्यन्ति सर्वे । तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्माञ्जर-
दष्टिर्यथासानि ॥ १३३ ॥　　॥ —१६ ॥

(यत्) जो (ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र तथा अग्नि द्वारा (वर्म) रक्षाकारी बल मिलता है, वह (बहुलम्) विस्तृत तथा (उग्रम्) बड़े तेज वाला होता है, उसे (सर्वे) सारे (विश्वेदेवाः) फैले हुए देवता (न) नहीं (अति-विष्यन्ति) चीर सकते, अतः प्रत्येक मनुष्य को उसी की इच्छा करनी चाहिए और सदा यह संकल्प करते रहना चाहिए कि (तत्) वह (बृहत्) बड़ा बल (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (त्रायताम्) रोगों से बचावे, ताकि (आयुष्मान्) बड़ी आयु वाला होकर (जरत्-अष्टिः) बुढ़ापे में भी पाचन शक्ति तथा अन्य बलों के ठीक होने से सुख का भोग करने वाला (आसानि) हो सकूं।

सब नर नारी अपने २ लिए यत्न करते रहें । पर, सच्चा वैद्य सारे मनुष्य-मात्र के लिए सदा सुख संकल्प से युक्त रहे । जिस तरह ब्राह्मण-पुरोहित के यजमान होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-वैद्य के घर निश्चित हों । उसे पेट भरने के लिए अधिक चिन्ता न करनी पड़े । उसे तो आयुर्वेद के गूढ़ तत्त्वों के अनुसन्धान में ही लगे रहना चाहिए । उसकी योग्यता की परीक्षा इस बात से होनी चाहिए कि उसके बांधे हुए नियमों का पालन करते हुए, उस के यजमान रोगी न हों और ज्यों ही कभी कोई लेट भी जाए तो वह झट उसके सिरहाने खड़ा होकर, अपनी शक्ति से उसे स्वस्थ करने का यत्न करे । उस के उस समय कैसे शुद्ध भाव हों, यह इस मन्त्र से सुनाता हूं:—

* (४१) अस्मिन्निन्द्रो निदधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् । दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥ १३४ ॥ ॥ —२१ ॥

(अस्मिन्) इस में (इन्द्रः) इन्द्र (नृम्णम्) बल को (निदधातु) भर दे। (इमम्) इस में (देवासः) सारे देवताओ ! (अभिसंविशध्वम्) तुम प्रतिष्ठित होओ। तुम्हारे प्रभाव से प्रभावित होकर, तुम्हारी शक्ति से शक्तिमान् होकर (यथा) ताकि यह (शतशारदाय) सौ वर्ष के (दीर्घायुत्वाय) लम्बी आयु वाले जीवन के लिए (आयुष्मान्) अच्छी आयु से युक्त होकर (जरदष्टिः) बुढ़ापे में भी भोग भोग सकें।

† जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः । सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ १३५ ॥ अथर्व० १२।२।४५॥

(अग्ने) (जीवानाम्) जो जीवित हैं, उनकी (आयुः) को (प्र तिर) बढ़ाओ। (ये मृताः) जो मर चुके हैं वह (पितॄणां लोकम्) पितरों की गति को (अपि-गच्छन्तु) प्राप्त हों। (सु-गार्हपत्यः) घर को अच्छी तरह पालना करने वाले के भाव से युक्त होकर (अरातिम्) कायर और कंजूस

* पराविराट्त्रिष्टुप्छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† भृगुः ऋषिः, अग्निः देवता, भूरिक् त्रिष्टुप् छन्दः । (अनुक्रमणी में जगती)

को (वि-तपन्) अच्छी तरह तपाते हुए (अस्मै) इस धार्मिक पुरुष के लिए (उषामुषाम्) प्रत्येक उषाकाल को (श्रेयसीम्) कल्याण से युक्त करके (धेहि) धारण करो।

जो जीवित हैं, उनकी आयु बढ़े। वे धार्मिक तथा ईश्वर-भक्त हों। उनके लिए प्रत्येक दिन नया ऐश्वर्य लेकर चढ़े। जो अपना समय पाकर इस शरीर को छोड़ें, वे भी अपने धर्म बल से श्रेष्ठ, विद्वान्, धार्मिक लोगों को जो दशा प्राप्त होती है, उसे लाभ करें। पिता के पीछे पुत्र धर्म-वृद्धि करता हुआ चला चले। कोई पापी न हो, सभी धर्मात्मा हों। जब तक यह मर्यादा न चले, वेद का आशय कभी पूरा नहीं हो सकता। अतः प्यारो, इसी प्रकार अपने जीवनों को बनाने का नित्य यत्न करते रहो।

* (४३) उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्त्तिं यजमानं च वर्धय॥१२६॥

अथर्व० १९। ६३। १॥

(ब्रह्मणः-पते) हे वैदिक ज्ञान के स्वामिन्, (उत्-तिष्ठ) हमारी सहायता के लिए तैयार हो जाओ। (यज्ञेन) यज्ञ-मय परोपकारी जीवन द्वारा (देवान्) विद्वानों को (बोधय) जगाओ। (आयुः) प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति और यज्ञ करने वाले लोगों को (वर्धय) बढ़ाओ॥

प्यारो, वही परमात्मा जानते हैं कि हमें किस प्रकार का कार्य करने से सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। चिरकाल से वेद का स्वामी हमारे लिये सो गया है। हमें ठीक प्रकार से जीने

* ब्रह्म ऋषिः, ब्रह्मणस्पतिः देवता, विराड् उपरिष्टाद्बृहती छन्दः।

का मार्ग भूल गया है। हे प्रभो, अपने पुत्रों पर कृपा करो। पुनः मार्ग दिखाओ। हमारी मूर्खता के कारण हमारी आयु तथा प्राण-शक्ति क्षीण हो गयी है। जहां हमारे पूर्वज सैकड़ों वर्ष तक जीवन का भोग करते थे, हम ऐसे मन्द भाग्य हैं कि पचास और साठ से ऊपर चढ़ ही नहीं सकते। जहां दूसरे लोगों ने अपनी आयु को बढ़ाने का यत्न किया है, हमने उलटे घटाना ही अपना कर्तव्य समझा है।

भगवन्! हमारी संख्या प्रतिदिन थोड़ी हो रही है। हमारे में सर्व प्रकार के कुपथ्य के कारण प्रजनन-शक्ति का नाश हो रहा है। और जो प्रजा होती भी है, वह अधिक दुर्बल ही हो रही है। हमारे देश के पशुओं पर भी काले बादल छाए हुए हैं। हमारा यश कहां से पैदा हो? हम किस प्रकार अच्छे कर्म करें? प्रभो, हमारा जीवन कैसे यज्ञ का रूप बन जावे? यह आप ही भली भांति जानते हो आप ही कृपा करो और हमारे अन्दर सच्चे विद्वान् पैदा हों, जो हमें सु-मार्ग पर चलाकर पाप, भय और अकाल मृत्यु से बचाने वाले हों।

सत्य०—महाराज, अब तो भली भांति समझ में आ गया है कि रोग होने पर आलस्य नहीं करना चाहिए। कुछ उपाय करना ही ठीक है।

मा०—बिल्कुल ठीक है। पर करें तो क्या करें? जितने मुंह उतनी ही बातें सुनने में आती हैं। हर एक अपनी चिकित्सा को ही आकाश तक उठाता है। शेष सब को कोसना ही उसको ठीक सूझता है।

वस्तु०—जहां श्रद्धा हो, वहीं इलाज लाभदायक हो जाता है।

सत्य०—यूंही श्रद्धा थोड़ी हो जाती है! कोई और कसौटी भी चाहिए। महाराज, अब इस विषय में वेद का सन्देश सुनावें, तो बड़ा लाभ हो।

महा०—जो कुछ तुम अब तक सुन चुके हो, उस में साधारण रीति से इस विषय में भी संकेत होता ही रहा है। प्रत्येक प्राणी के लिए एक ही ढंग पर चिकित्सा लाभ नहीं कर सकती। अतः विद्वान् लोगों ने अपने २ अनुभव के अनुसार भिन्न २ मार्ग निकाले हैं। यह मनुष्यों का अभिमान है, जो वह एक बात के लाभ बतलाने के लिए शेष सबकी निन्दा करते हैं। यह सभी प्रकार हमारे कल्याण के हेतु हैं, इसलिए किसी की भी निन्दा न करनी चाहिए। हां, रोगी का स्वभाव देखकर, उस के अनुकूल प्रकार से उसे स्वस्थ करने का यत्न करना ही हमारा मुख्य कार्य है।

मा०—महाराज, आजकल कई ढंग थोड़े दिनों से चले हैं। लोग कहते हैं, वह हमारे पूर्वजों को पता नहीं थे। आपका इस विषय में क्या विचार है?

महा०—सज्जनो, आज के लिए पर्याप्त हो चुका है। कल आपके सामने वेद-मन्त्रों के आधार पर चिकित्सा के भिन्न २ प्रकारों के सम्बन्ध में कुछ कहूंगा। उसके पश्चात् आपको स्वयं विदित हो जावेगा कि कौनसी बात नई है और कौनसी पुरानी है। अब और आज कुछ नहीं कहूंगा।

दो मिनट के लिए सबने परस्पर नमस्ते २ कहा और अपने

मकानों को चले गए। रात्रि को अपने २ स्थान पर सोये, किसी को भीष्म का, किसी को दयानन्द का, किसी को मृत्यु के भयानक दृश्य का किसी को औषधियों का, किसी को डाक्टरी चीर फाड़ का, किसी को जादूगर के करतबों का, किसी को रोगी के सिरहाने खड़े होकर किसी मन्त्र पढ़ने वाले का—अर्थात् भिन्न २ प्रकार का स्वप्न दिखाई दिया। यह मन की मौज है, किसी को हंसा दे, किसी को रुला दे, किसी को डराकर भगा दे और किसी का कुछ और कर दे।

इति द्वितीये शरीरसन्देशे तृतीय उच्छ्वासः।

आदितः षष्ठ उच्छ्वासः।
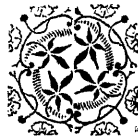
चतुर्थ उच्छ्वास ।

वैदिक चिकित्सा

(पूर्व खण्ड)

महा०—सत्यकाम यह महाशय कौन हैं ?

सत्य०—महाराज यह बड़े सज्जन पुरुष हैं और अमरकोट में वैद्यक करते हैं। मायाराम जी के सम्बन्धी हैं। और उनसे मिलने को यहां आये हुए हैं। रात्रि को आपके उपदेश के विषय में कुछ बात सुनकर, आपके आकर्षण से खिंचे हुए मेरे साथ आपकी सेवा में आये हैं।

महा०—बहुत अच्छा किया। महाशय जी, आज का विषय आपके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। पर, मायाराम जी क्या, नहीं आयेंगे ?

सत्य०—महाराज वह कुछ अस्वस्थ से हैं।

महा०—वैद्य जी, वेद भगवान् में वैद्यों का अनेक स्थानों पर ब्राह्मण तथा विप्र नाम से वर्णन किया गया है। विप्र परमात्मा का भी नाम है, क्योंकि वह सर्वत्र चर, अचर में व्यापक होकर सब को जीवन देता है। सच्चे वैद्य का भी यह धर्म है, कि प्रभु की भक्ति से सदा प्रसन्न-चित्त होता हुआ, प्राणि-मात्र के लिए सहानुभूति से हृदय को विकसित कमल की नाईं खिला हुआ बनाये रक्खे। जैसे दूसरे ब्राह्मण मस्तिष्क को उज्ज्वल तथा हृदय को शुद्ध बनाकर, संसार को लोक तथा परलोक के कार्यों में निपुण बनाते हुए अपने धर्म का पालन करते हैं, वैसे ही

वैद्य भी सब धर्म, कर्म में मुख्य साधन, शरीर को रोग-रहित बनाकर बड़ा उपकार कर सकता है। इस पवित्र सेवा से वह सब के माथे का भूषण बन सकता है। उसे वृथा कौड़ियों के भाव अपने आप को बेचने की क्या आवश्यकता है? यही भाव आज कल भी कहीं २ किसी साधु महात्मा में पाया जाता है। जब किसी श्रद्धालु को कोई जड़ी बूटी बताते हैं, तो उसे मूल्य लेकर बेचने से हटा देते हैं। उनका विचार है कि इस तरह करने से औषधि की शक्ति क्षीण होजाती है।

वस्तु०—महाराज, आज तो इस प्रकार के वैद्य दिखाई नहीं देते? यह क्या बात है, मुझे स्मरण है, एक बार एक पंडित जी महाराज सुना रहे थे कि वैद्य के अन्न को शास्त्र में अपवित्र गिना गया है। यह किस तरह से आप समझाते हैं?

महा०—यह ठीक है, जिस आदर्श को वेद बतलाता है, वह सहस्रों वर्षों से गुम हो चुका है। कुछ लोभी आदमियों के हाथों में वैद्यक के चले जाने अथवा मिथ्या सम्प्रदायों के उलटे विचारों के प्रचार से चिकित्सा-कार्य उच्च कोटि के ब्राह्मणों ने करना छोड़ दिया। इस में तनिक भी सन्देह नहीं कि उन्होंने इसे आरम्भ किया। परन्तु समय के फेर से वह अपने गौरव को स्थिर न रख सके। इस समय बिना फीस के काम करने वाले, दिन रात अपने ज्ञान को उन्नत कर लोकोपकार में खपने वाले लोगों की इधर वैसी ही कमी है, जैसी कि ब्राह्मणों के दूसरे वेदोक्त कार्यों में दिखाई दे रही है। आज वेद का दान करने वाले शूर कहां हैं? आज आकाशी वृत्ति को धारण करके प्रचार करने वाले कहां हैं?

सत्य०—महाराज, अब कुछ व्यवस्था बदल चुकी है। आगे सारे समाज की बनावट हीं ऐसी बन रही थी।

महा०—यह ठीक है पर, स्मरण रक्खो, भेद केवल मन की वृत्ति का है ब्राह्मण न आगे कभी भूका मरा और न अब उसे डर होना चाहिये। सारी जीवन-मर्यादा को सीधा करने की आवश्यकता है। हमारे पूर्वजों ने इस अदर्श-जीवन को पूर्णतया निबाहा था और इसी लिए सारा संसार उन के गुण अब तक गाता है। इस को छोड़ देना ही घोर अनर्थों का मूल बना हुआ है। आज वैद्य ही सच्चे ब्राह्मण बन जावें, आधी वर्ण-मर्यादा पुनर्जीवित हो जाती है। बुरे आचार, अंधेरे में होने वाले व्यभिचार आज रफूचक्कर हो जाते हैं। यह मत कहो, हम अब ऐसा नहीं कर सकते। यह कहो कि अब हम कष्ट के जीवन से बहुत घबराते हैं। हमारे दुर्बल नेत्र वेदभानु के तीखे प्रकाश को अब सहारने में असमर्थ हो रहे हैं। वेद-सन्देश गूंज २ कर रह जाता है। पर मुझे पूरा विश्वास है कि वह समय आने वाला है, जब हमारे चित्त बड़े ध्यान से इसे सुनेंगे और अपनाएंगे।

वैद्य०—महाराज, चिकित्सा कौनसी ठीक है, देसी या अंग्रेज़ी ?

महा०—आपका प्रश्न सुनकर मैं बड़ा आश्चर्य करता हूं। यदि पैसे की झपट का प्रश्न बीच में से निकाल दिया जावे, तो आज सब चिकित्सा मिल कर एक पूर्ण आयुर्वेद बन सकता है। आप कल नहीं थे अतः मैं आपको अपना विचार सुनाता हूं।

भिन्न २ प्रकृति वाले रोगियों का एक ही उपाय द्वारा रोग

दूर करना असम्भव है। किसी का मन दुर्बल है, किसी की प्राण शक्ति क्षीण होरही है किसी का रक्त प्रवाह रुक रहा है। किसी के तन्तु-जाल में अधिक तनाव पैदा होकर रोग होरहा है। इस तरह और अनेक कारण भी होसकते हैं। इनके उपाय भी भिन्न २ हैं, कोई मनोबल से, कोई तपोबल से, कोई भौतिक चिकित्सा से, कोई औषध-सेवन से, कोई शल्य-क्रिया (चीर-फाड़) से और कोई थोड़ी २ सब क्रियाओं को मिलाकर ठीक हो सकता है बुद्धिमान् वैद्य इन सब को समय २ पर प्रयोग करता हुआ, शुद्ध हृदय की भावना से रोगी को ठीक कर देता है, उसका कार्य मरे हुए रोगी की नाड़ी देख कर फीस बटोरना नहीं। वेद के उच्च आदर्श के अनुसार, उसका कर्त्तव्य उस समय भी अपनी मानसिक ज्योति का प्रकाश करना है। वह सच्चे पुरोहित की तरह यजमान की सुख कामना करता है, सहानुभूति वैद्य की बड़ी आवश्यक सम्पत्ति है। इशारे से, बहाने से, जैसे भी हो रोगी के अन्दर यह विश्वास पैदा करदो, कि तुम अच्छे हो रहे हो, उसका रोग हटना आरम्भ हो जावेगा। चंगे भले आदमी के अन्दर भ्रम पैदा करदो, वह तुम्हारे देखते २ कहां का कहां जा पहुंचेगा।

मनोबल दो प्रकार से क़ाम करता है वैद्य का प्रभाव (Hypnotism) तथा रोगी की अपनी शक्ति का प्रभाव (Auito Suggestion)। प्रथम प्रभाव को ग्रहण करने के लिये रोगी का सरल तथा श्रद्धालु होना आवश्यक है। यदि वैद्य धार्मिक तथा धीर होगा, तो अवश्य ही अपनी शक्ति से

उसे शक्त बना सकता है, दूसरी अवस्था में रोगी के अपने स्थिर स्वभाव पर ही सब कुछ निर्भर है, अपने छोटे से शरीर के बाहिर चारों ओर विस्तृत ब्रह्माण्ड पर दृष्टि डाल कर, वह नाना प्रकार के स्वास्थ्य-प्रद भावों का संग्रह कर सकता है। एक वेद-भक्त, आर्य के लिए ऐसा बनना उचित है। जीवन के भिन्न२ कार्यों में प्रवृत्ति करते हुए भी, उसके सामने सदा धार्मिक होने का विचार होना चाहिये। रोग पाप है। पाप इसका मूल है और यह पाप का बीज है। सूर्य और चन्द्र, पृथिवी और आकाश, जल और वायु—सारे पदार्थ अपने २ नियम का पालन करते हुए संसार को अपनी सुन्दरता से एक रमणीक उद्यान बना रहे हैं, तो मनुष्य क्यों अभागा बनकर रहता है ? उसमें क्यों न ऐसी शक्ति का विकास हो, जिससे वह देवता बन जावे ? इस वृत्ति को धारण करने से मनुष्य नीरोग होता चला जाता है । शारीरिक नियमों का ज्ञान लाभ करता हुआ, उनका अधिक पालन और रोगों का त्याग करता जाता है । उसकी मानसिक प्रेरणा अब केवल इच्छा के रूप में प्रकट नहीं होती, अब वह कार्य में प्रवृत्त कराने वाले बल में बदल जाती है । वैद्य जी, आप वैदिक सन्ध्या तो करते होंगे ?

वैद्य०—नहीं, महाराज, मैं तो वैद्यक सन्ध्या ही करता रहता हूं। गोलियां और चूर्ण बनाने में ही समय बीत जाता है।

महा०—यह ठीक नहीं है। जब तक इस प्रकार से आप अपना मनोबल नहीं बढ़ाते, आप के अन्दर रोगियों को शीघ्र नीरोग करने की शक्ति नहीं हो सकती। इसी लिये मैंने यह

प्रश्न आप से किया था। ऋषियों ने उस में पहले इन्द्रिय-स्पर्श तथा अंग-न्यास के मन्त्रों को रक्खा है। शरीर की अपनी शक्ति बड़ी अद्भुत है। यदि सब नर नारी इस इशारे का ठीक २ ज्ञान प्राप्त करके, इन मन्त्रों को मानसिक रीति से अपनी सोई हुई शक्तियों को जगाने के लिये जपा करें, तो वह कुछ काल के पीछे आपको वृथा कष्ट देना, अपना धन नष्ट करना और तरह २ के रसायनों से पेट भरना छोड़ देंगे। उस समय ही वस्तुतः वह उस परम पिता का ठीक प्रकार से धन्यवाद करना सीखेंगे कि उसने हमको यह मानसिक शक्ति-गृह (Mental Power house) प्रदान करके हम पर कितना उपकार किया है।

अब यदि इस के साथ बाहिर की शक्तियों के प्रभाव को भी अच्छी तरह ग्रहण करने का अभ्यास किया जावे, तो अति उत्तम परिणाम होगा। हमारे शरीर के साथ सूर्य्य, अग्नि, जल, वायु आदि भौतिक पदार्थों का बड़ा समीपवर्ती सम्बन्ध है। जिस शरीर में इन प्रभावों की उचित मात्रा पाई जाती है, वह स्वस्थ रहता है, जब कहीं कमी हो जाती है, तो रोग पैदा होने लगता है। यदि कहीं अति हो जाती है, तब भी कष्ट होता है। एक आदमी वस्त्रों के न होने से ठिठर जाता है। दूसरा अधिक वस्त्रों के नीचे दबा हुआ गर्मी से तड़पने लगता है।

आज नगरों में रहने वालों की अवस्था बड़ी शोचनीय है। लाखों प्रजा ऐसी गलियों में सड़ा करती हैं, जहां बारह महीने ही सूर्य भगवान् के दर्शन नहीं होते। मुझे कभी २ ऐसे स्थानों पर सत्यनारायण की कथा होते देखकर उन लोगों की मूर्खता

पर हंसी आया करती है। उन्हें क्या पता कि वस्तुतः इस कथा का क्या तात्पर्य है। यह उन्हें तब ही ज्ञान होगा, जब वे शुद्ध, शीतल वायु के झोकों और सूर्य की सुनहरी किरणों का स्वाद चख लेंगे। उनसे अधिक क्या कहना और पूछना, उनकी पीली २ ढिलकती हुई खालें ही उनका जीवन-वृत्तान्त सुना रही हैं।

वस्तु०—महाराज, यही भौतिक चिकित्सा (Nature Cure) है ? लोग कहते हैं कि योरुप और अमेरिका में इस विद्या की बड़ी उन्नति हो रही है। क्या हमारे यहां भी इसका प्रयोग पाया जाता है ?

महा०—आज कल वैद्य इस का बहुत कम प्रयोग करते हैं। बहुत थोड़े हैं, जिन्हें इस आश्चर्य-रूप चिकित्सा का कुछ ज्ञान भी हो। इस में कोई सन्देह नहीं कि अब इस विषय में जो काम पश्चिम के लोग कर रहे हैं, वह प्रशंसनीय है। जैसे और सहस्रों विषयों में हमने किया है, वैसे ही इस में भी अपने पूर्वजों के परिश्रम से कमाए हुए कोष को संभालने में असमर्थ सिद्ध हो रहे हैं।

मैं आज आपको वह मन्त्र सुनाना चाहता हूं जिन में वेद-माता ने इन सारी विद्याओं का बीज बोया हुआ है। यह बड़े शोक की बात है कि वेद की पकी हुई खेती पर ओले पड़ गये। वेद में वर्णन किया गया है कि सूर्य की किरणों में जीवन का प्रकाश है। निर्मल जल अमृत का स्वरूप है। शुद्ध वायु प्राण का संचार है। इन शक्तियों का संग्रह दीर्घायु करता है।

प्राचीन वैदिक जीवन में इनका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है,

यह तनिक विचारने से पता चल जावेगा। आर्यों का ब्रह्मचर्याश्रम दूर, निर्जन स्थान में, शारीरिक तथा मानसिक पूंजी जोड़ने में बीतता था। गृहस्थ आश्रम में भी नित्य बाहर जाकर, शुद्ध जल के किनारे पर आसन लगाने तथा प्रभु भक्ति करने का रिवाज था। तीसरा आश्रम तो नाम से ही वनी है और चौथा भी घूम २ कर अपने विस्तृत अनुभव द्वारा जनता के उपकार में ही समाप्त होता था। हमारी भांति चारपाई पर सड़ने, चौकीदारी करने या बच्चे उठाने के लिए वह समय नहीं समझा जाता था। आर्य-जीवन में भौतिक विभूतियों का सम्पर्क एक आवश्यक अंग है। वैदिक उपासना खुले वायु-मण्डल तथा चमकते हुए भाव के प्रकाश में ही वह अनोखा प्रभाव पैदा करती है कि मनुष्य अपने आप को पृथिवी से उठता हुआ अनुभव करता है। यह सच मानो जिसने कभी उषा काल की सुन्दरता तथा उदय होते हुए सूर्य की महिमा के पवित्र दृश्य से अपने मन को शान्त न किया हो, उसके मन में वैदिक सन्ध्या तथा उपासना के मन्त्रों के गम्भीर भावों का प्रकाश नहीं हो सकता। यह भौतिक शक्तियां दिव्य गुणों से सम्पन्न देवता हैं। इनका संसर्ग निर्बलों को बल देता, सोये हुओं को जगाता तथा अध-मरों को जीवन प्रदान करता है।

सत्य०—महाराज, अब मुझे ठीक २ पता चला है कि प्राणायाम के क्यों इतने गुण गाये जाते हैं।

महा०—यह साक्षात् वायु द्वारा आन्तरिक नाड़ियों का धोना है। पर, स्मरण रक्खो, गन्दी जगह करने से लाभ तो दूर

रहा, हानिकारक हो जाता है। जब खुली हवा में इस का अभ्यास किया जाता है तो प्राण-शक्ति बढ़ जाती है। यही योगियों की महिमा तथा ब्रह्मचारियों के बल का रहस्य है। जैसे वेद ने आदि सृष्टि में यह भाव लोगों को सिखाए, वैसे अब फिर सिखाने की आवश्यकता है। अब बड़े २ नगरों में जनता का जमघटा हो जाता है, कारखानों और मशीनों के द्वारा उपकार के साथ २ हानियां भी बहुत हैं। पुरुषार्थ का जीवन धारण करो। वेद के अनुसार, सायं प्रातः प्रभु की महिमा के दर्शन करते हुए, खुले स्थान में वायु-स्नान, प्राणायाम तथा ध्यान करते रहो। ऐसा करने से रोग दूर रहता है। चिरकाल से अपना अधिकार जमा कर बैठा हुआ रोग भी शनैः २ हटने लगता है।

वैद्य०—भगवन्, मेरे लिये तो आज आपने उपयोगी विद्या का भण्डार खोल दिया है। अब कुछ औषधियों के विषय में भी उपदेश करें। उन का सेवन कहां तक करना ठीक है?

महा०—इन बतलाये हुए उपायों का ठीक २ प्रयोग करते हुए, आवश्यकता पड़ने पर उत्तम औषधियों का भी सेवन कर लेना चाहिये। भाई, प्रत्येक पत्ता फूल ओषधि है। जो अन्न तुम खाते हो, वह परम ओषधि है। आज कल की गड़बड़ का कारण तो वैद्यों और डाक्टरों की स्वार्थ-परायणता है। वह अपनी वस्तुओं की प्रशंसा और दूसरे की वस्तुओं को विष बतलाया करते हैं। परन्तु वेद के भाव को समझ कर तो यह निश्चय हो गया है कि कोई वस्तु सर्वथा विष नहीं है। प्रत्येक पदार्थ कहीं न कहीं अमृत-तुल्य लाभ करता है। और उस तरह तो हमारे

अपने अन्दर हमें मारने के लिये विष पैदा हो जाता है। जल, वायु आदि देवताओं के अंशों के कम या बहुत होजाने से, जठर-अग्नि के मन्द होजाने से, भोजनादि को ठीक २ ग्रहण करना तथा पचाना कठिन तथा असम्भव भी हो जाता है। इस विषमता का इलाज करना उस विष की उत्पत्ति को रोकता है। इसका न रोक सकना ही रोग का मूल है। कई वार यह कार्य अति शीघ्र करना ही आवश्यक होता है। उस समय ओषधियों के प्रयोग का अवसर समझो। इनकी सहायता से त्रुटि पूरी हो जाती है और बाधाएं दूर हो जाती हैं। वेद में स्वाभाविक चिकित्सा के साथ २ सहस्रों ओषधियों का भी वर्णन किया है। प्राणियों के देह की रचना बड़ी सूक्ष्म है। जैसे भी हो, उसे स्वस्थ रखना हमारा काम है। मैं फिर कहता हूं, ओषधियां विष नहीं, अमृत हैं। पर यूं ही इन्हें अन्दर ठोंसते रहना अच्छा नहीं। ऋषियों और मुनियों की तरह अति आवश्यक होने पर इसको वर्तना ठीक है।

वैद्य०—महाराज, वह देसी और अंग्रेज़ी ओषधियों वाली बात अभी बीच में ही है।

महा०—यदि ध्यान करो तो उसका भी उत्तर आगया है। प्रत्येक देश के रहने वालों के लिये अपने यहां का जल, वायु उपयोगी होता है, धन की प्रकृति यहां के तत्त्वों के ही अनुकूल बनी होती है। पर भारतवर्ष में बात विचित्र ही है, वैद्य नये ढंग सीख कर, अच्छी तरह से आज कल की विद्या का लाभ नहीं उठाते। डाक्टर अपने नशे में मस्त हैं। यदि इन्हें देश-हित की

ठीक रीति से बुद्धि मिल जावे, तो जैसे अब यह यहां से रुपया बाहिर भेजने के एजेण्ट हैं, वैसे ही फिर अपने यहां अच्छी २ ओषधियां तैयार करके देश को रुपये से भरपूर भी कर सकेंगे। पर, मुझे अभी इस ओर उन्नति का कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ता।

वस्तु०—महाराज, यदि हमारे यहां शल्य चिकित्सा (Surgery) भी होती, तो फिर डाक्टरी का इतना अड्डा न जमता।

महा०—यह कहना भी बड़ी भूल की बात है, कि हमारे यहां शल्य-चिकित्सा का प्रचार नहीं हुआ। बाहिर की खाल के तथा और भी कुछ रोगों में चीर फाड़ से शीघ्र ही सफाई होजाती है। वेद में इसका बीज विद्यमान है। इतिहास में प्राचीन शल्य-शास्त्रियों की महिमा मिलती है। पर, अब चिरकाल से अपनी मूर्खता के कारण हमारी जाति इस विद्या को भी भुला चुकी है, हमने मिथ्या धर्म २ कह कर छुरी और चाकू का चलाना भी पाप समझ लिया। एक दिन वह था जब हमारे पूर्वजों से दूसरे लोग आ २ कर वैद्यक विद्या को सीखा करते थे और यहां के ग्रन्थों का दूसरी भाषाओं में उलथा किया जाता था और एक यह है कि भारतवासियों को अब स्थान २ पर धक्के खाने पड़ते हैं। प्राचीन गौरव नष्ट होचुका है। यह हमारी अपनी मूर्खता का परिणाम है। वेद की आज्ञाओं को पैर तले रोंद कर हमने वैद्यों तथा शल्य-शास्त्रियों की निन्दा की और उन्हें शूद्र समझा। यह इसी बात का परिणाम है कि यह हाथ की विद्या अब हमारे

नाईयों के पास ही रह गई है। इस से अधिक और लज्जा की बात क्या हो? सज्जनो, अब ध्यान लगाकर वेद-सन्देश को सुनो। इन भिन्न २ विषयों के सम्बन्ध में, मैं आपके सामने कुछ मन्त्रों की व्याख्या संक्षेप से करता हूं। आप के प्रश्नों के उत्तर मैं अब तक जो कुछ बताता रहा हूं, वह इनके आधार पर ही कहता रहा हूं।

*(१) त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः । व्य१स्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवा-श्चातयस्वा विषूचीः ॥ १३७ ॥ ऋग्० २ । ३३ । २ ॥

(रुद्र) हे दुष्ट कुकर्मियों को रुलाने वाले! (त्वादत्तेभिः) तुझ से दी हुई (शन्तमेभिः) अत्यन्त हितकारी (भेषजेभिः) ओषधियों की सहायता से (शतं) सौ (हिमा) वर्षों को (अशीय) मैं भोग सकूं। (अस्मत्) हमारे मध्य से (द्वेषः) अहितकारक (अंहः) हिंसात्मक (विषूचीः) सारे शरीर में भिन्न २ नामों से व्यापक (अमीवाः) व्याधियों को (वितरम्) दूर (वि-चातयस्व) भगा दो।

ओषधियों की सहायता से मनुष्य दीर्घायु हो सकता है, यह भाव इस मंत्र से स्पष्ट विदित होता है। इनका प्रदान करने वाला तथा मूल-ज्ञान देने वाला प्रभु है। रोगों की कोई सीमा तथा संख्या नहीं है पर, वह जिस पर कृपालु होते हैं, उसको पाप छू भी नहीं सकता।

---

* गृत्समद ऋषिः, रुद्रो देवता, पंक्तिः छन्दः

*(२) श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो। पर्षिणः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥ १३८॥ —३॥

हे रुद्र (वज्र-बाहो) हे गरजती हुई बिजली को हाथ में पकड़ कर दुर्भिक्ष-राक्षस का नाश करने वाले, (जातस्य) जो कुछ दिखाई देता है, उस सब से तुम (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ (असि) हो, (तवसम्) जो शक्ति शाली पदार्थ हैं उनमें सब से बढ़कर (तवस्तमः) बलवान् हो। (नः) हमें (अंहसः) मारने वाले पाप-रोग से (पारं पर्षि) पार करो, ताकि (स्वस्ति) हम कल्याण-युक्त जीवन व्यतीत कर सकें। (रपसः) पाप के (विश्वाः) सर्व प्रकार के (अभि-इतीः) आक्रमणों को (युयोधि) अत्यन्त अलग करो—हम उनका सामना कर उन्हें दूर भगा सकें।

पूर्व दर्शाये हुए नियमों का पालन न करना पाप है। इसका परिणाम रोग भी पाप हैं। परमात्मा के स्थान पर अन्य किसी की पूजा करना भी पाप है। उसका परिणाम भी मानसिक रोग है, वह भी पाप है। इनसे वही भगवान् छुड़ा सकता है। वही सब व्याधियों से मुक्त कराने वाला वैद्यराज है। उसकी भक्ति करते रहने से ही सब रोगों को भस्म कर डालने वाली श्रद्धा-अग्नि प्रदीप्त होती है।

†(३) मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती

* विराट् त्रिष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† त्रिष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

वृषभ मा सहूती। उन्नो वीरां अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥ १३९ ॥

(रुद्र) (त्वा) तुझे (नमोभिः) नमस्कारों से (मा) मत (चुक्रधाम) क्रोधित करें, और न ही (दुः-स्तुती) बुरी स्तुति से या (स-हूती) मिले हुए बुलाने से। (नः) हमारे (वीरान) वीरों को (भेषजेभिः) ओषधियों से (उत अर्पय) उन्नत करो, (शृणोमि) मैंने सत्संगियों से सुना है कि (त्वा) आप (भिषजाम्) सब वैद्यों से (भिषक्तमम्) बढ़कर वैद्यराज हैं।

वेद का उपदेश अच्छी तरह समझ लो। प्रभु उन लोगों पर, भी क्रोध करता है जो केवल नमस्कार कर छोड़ते हैं, पर और कोई पुरुषार्थ नहीं करते। दीनता और कायरता ईश्वर के समीप अति घृणित अवगुण हैं। उलटी रीति से भी पूजा करना बुरा है। प्रभु जन्म मरण के बन्धन से सदा मुक्त रहते हैं। उनकी कोई मूर्त्ति नहीं। पर, मनुष्य अपनी अविद्या के कारण अपने समान ही प्रभु के स्वरूप की भी कल्पना कर लेता है। यह ठीक नहीं, और न ही प्रभु के साथ किसी अन्य व्यक्ति की उसी तरह इकट्ठी पूजा करनी ठीक है। वह व्यक्ति कितना ही पीर, फ़कीर और सिद्ध महात्मा क्यों न हो, उसका प्रभु के साथ मिला देना नास्तिकता है। यह सब पाप हैं और इनका परिणाम बुरा है। इन से छुड़ाकर, अपने भक्ति-रस को पिलाकर शरीर तथा मन द्वारा स्वस्थ करना उसी प्रभु के सामर्थ्य में है। अतः वेद उसे सब वैद्यों में श्रेष्ठ कह कर इस भाव को प्रकट करता है। इसी दिव्य शक्ति का अंश वैद्य में पाया जाना चाहिए।

उसका जीवन प्रभावशाली होगा, तो उसकी शक्ति दुगुनी हो जावेगी ।

* (४) शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ १४० ॥

ऋग् १० । ९७ । २ ॥

वैद्य ओषधि-प्रयोग से पूर्व ध्यान करता है, (अम्ब) हे माताओ, (वः) तुम्हारे (शतम्) सैकड़ों (धामानि) हैं, (उत) (सहस्रम्) हज़ारों (वः) तुम्हारे (रुहः) उत्पत्ति-प्रकार हैं। (अध) अब (शत-क्रत्वः) अनेक बलवालियो, (मे) मेरे (इमम्) इस पुरुष को (अगदम्) नीरोग (कृत) करना ।

† (५) यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ १४१ ॥ —६ ॥

वैद्य किसे कहते हैं ? (सः) वह (विप्रः) ब्राह्मण-वृत्ति, परोपकारी सज्जन (भिषग्) वैद्य (उच्यते) कहा जाता है, जो (रक्षः–हा) राक्षसों=रोग के बीजों को मारने वाला (अमीव–चातनः) तथा व्याधियों को दूर भगाने वाला हो और (यत्र) जिस (के मस्तक) में (ओषधीः) ओषधियां (समग्मत) अच्छे प्रकार मिलकर रहती हैं, (इव) जैसे (समितौ) सभा में (राजानः) राजा तथा उसके साथी (मिलकर बैठते हैं) ।

---

* ऋषि भिषगाथर्वणः, ओषधीस्तुतिः देवता, अनुष्टुप् छन्दः ।

† ऋषि आदि पूर्ववत् ।

दरबार में सब का स्थान निश्चित होता है । इसी प्रकार योग्य वैद्य के मन में भिन्न २ अवसरों के लिए भिन्न २ वस्तुओं के प्रयोग का चित्र बना रहता है। उसका ज्ञान अनुभव से बढ़ा हुआ है। यही कारण है कि वह रोग के मूल तक काट करता हुआ जा पहुंचता है।

* (६) अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥ १४२॥ –७ ॥

(अश्वावतीम्) वेग पैदा करने वाली, (सोमावतीम्) स्फूर्ति तथा कर्मवीरता पैदा करने वाली, (ऊर्जयन्तीम्) पाचन-शक्ति बढ़ाने वाली तथा (उत्-ओजसम्) उत्तम कान्ति पैदा करने वाली (सर्वाः) सब (ओषधीः) ओषधियों को (अस्मै) इसके लिए (अरिष्ट-तातये) स्वास्थ्य लाने के लिए (आ-वित्सि) अच्छी तरह ढूंढ २ कर लाता हूं।

ओषधियों के अपने २ प्रभाव हैं। योग्य वैद्य रोगी की दशा के अनुकूल जांच करके अपनी थैली में से उचित वस्तु का प्रयोग करता है। वह पनसारी के विश्वास पर ही नहीं रहता, अपनी ओर से जा २ कर ठीक शास्त्रोक्त ओषधियों का संग्रह कर लाता है। जिसने हिमालय कभी देखा ही न हो, उसे वैद्यक करने का क्या अधिकार है ?

† (७) उच्छुष्मा ओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते ।
धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥ १४३ ॥ –८॥

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

† विराड् अनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

वैद्य रोगी का उत्साह बढ़ाने के लिए उसका ध्यान आकर्षित करता है। (पूरुष) हे पुरुष, देख तो सही। (तव) तेरे (आत्मानम्) आत्मा शरीर को (धनम्) स्वास्थ्य-धन (सनिष्यन्तीनाम्) प्राप्त कराती हुई (ओषधीनाम्) ओषधियों के (शुष्माः) बलवर्धक प्रभाव ऐसे ही (उत्-ईरते) ऊपर उठ २ कर आ रहे हैं, तुम्हें प्रभावित कर रहे हैं (इव) जैसे (गोष्ठात्) बाड़े से (गावः) गौएं बाहिर निकलती हैं।

प्रातःकाल बाहिर निकल कर उछलने कूदने तथा खुली वायु खाने के लिए अशान्त गौओं को कभी देखा है ? इन ओषधियों की सूक्ष्म शक्तियां भी, मानो, इसी तरह बाहिर आने के लिए तड़प रही थीं। अब उनके भाग्य का उदय हुआ है। वैद्य का हाथ लगने से बन्द द्वार खुल गया है और उनकी शक्तियों से रोगी पर वही प्रभाव पड़ रहा है, जो एक भूखे व्यक्ति पर गौओं के धारोष्ण दूध का होता है।

* (८) अति विश्वाः परिष्ठाः स्तेन इव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत् किंच तन्वो३रपः ॥१४४॥ -१०॥

(इव) जैसे (स्तेनः) चोर (व्रजम्) पशुओं के वाड़े में घुस जाता है, वैसे ही (ओषधीः) ओषधियां (विश्वाः) सब (परिस्थाः) शरीर के परदों को (अति) चीर कर (अक्रमुः) अन्दर प्रवेश करती हैं, और (यत् किंच) जो कुछ भी (तन्वः) शरीर का (रपः) रोग होता है, उसे (प्र-अचुच्यवुः) नष्ट कर देती हैं।

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

रोग चाहे किसी भाग में भी हो, ओषधियों का प्रभाव वहां तक जा पहुंचता है। गति के गुप्त रूप को प्रकट करने के लिए चोर से उपमा दी है।

*(९) यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे। आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥१४५॥

॥-११॥

वैद्य का आत्म-विश्वास कैसा हो, यह इस मन्त्र से प्रकट होता है। (यत्) जब (अहम्) मैं (इमाः) इन (ओषधीः) ओषधियों को (वाजयन्) विशेष प्रकार से बलवान् बनाता हुआ (हस्ते) हाथ में (आदधे) लेता हूं, तो (यक्ष्मस्य) रोग को इतना भय लगता है कि (यथा) मानो, उस (जीव-गृभः) शिकार खेलने के लिए आये हुए का (आत्मा) अपना आप ही (पुरा) पहिले (नश्यति) नष्ट होजाता है।

उत्तम वैद्य के प्रयोगों में इतना बल होता है कि रोगी रोग को अपने शरीर से निकाल कर बाहिर फैंक देता है। उस पापी को लेने के देने पड़ जाते हैं। अपना पीछा छुड़ाने की करता है और दुम दबा कर भागता है। पुनः वैद्य कहता है:—

†(१०) यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥१४६॥ -१२॥

(ओषधीः) हे ओषधियो, (यस्य) जिस मनुष्य के (अंगम्-

---

* अनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

† निचृदनुष्टुप् छन्दः, अन्यत् पूर्ववत।

अंगम्) अंग २ और (परुः—परुः) जोड़ २ में तुम (प्र-सर्पथ) घुसती चली जाती हो, (ततः) उस के अन्दर से ऐसे ही (यक्ष्मम्) क्षय-रोग को तुम (वि-बाधध्वे) नष्ट कर देती हो, (इव) जैसे (उग्रः) शक्ति-शाली (मध्यम-शीः) वीर योधा युद्ध के बीच में घुस कर अपने बल से शत्रु-सेना को तितर बितर करके, मानो, निश्चिन्त होकर विश्राम करने लग जाता है। कोई उसका सामना करने वाला नहीं रहता।

आरम्भ में जब ओषधि अन्दर जाती है, तो उसकी अवस्था वीर अभिमन्यु के सदृश होती है। वह रोग रूपी शत्रुओं से चारों ओर से घिरी हुई होती है। पर, थोड़े ही समय के पीछे उसका प्रकाश वैसे ही चमकने लगता है, जैसे सूर्य की किरणों का उस समय होता है, जब वे अपने आगे से मेघ-सेना को हटा लेती हैं। अनेक प्रकार की ओषधियों का प्रयोग करता हुआ वैद्य अब उन के परस्पर मिल कर कार्य करने की भावना करता है। स्मरण रक्खो, इसका तात्पर्य यह है कि उसे पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर भिन्न २ ओषधियों का योग मिलाना चाहिए।

* (११) अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥१४७॥ –१४॥

हे ओषधियो, (वः) तुम में से (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरे की (अवतु) रक्षा करे (अन्या-अन्यस्याः) एक दूसरे के (उप-अवत) समीप होकर रक्षा करो । (ताः) वह तुम

---

* विराडनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

(सर्वाः) सब (सं-विदानाः) मिल कर काम करती हुई (मे) मेरे (इदम्) इस (वचः) वचन की (प्र-अवत) लाज रक्खो। मैं संसार में लाशें मारने वाला कु-वैद्य न समझा जाऊं।

*(१२) या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुचन्त्वंहसः ॥१४८॥ —१५ ॥

(याः) जो (फलिनीः) फलवाली होती हैं, (याः) जो (अफलाः) विना फल के रहती हैं, (अपुष्पाः) पुष्प-रहित, (याः च) और जिन पर (पुष्पिणीः) फूल पड़ते हैं, (ताः) वह सब प्रकार की ओषधियां जिन को (बृहस्पति-प्रसूताः) वेद-विद्या के प्रदान करने वाले प्रभु ने ज्ञान द्वारा हमें लाभ पहुँचाने के लिए प्रेरित किया है (नः) हमें (अंहसः) मरने योग्य रोग से (मुंचन्तु) मुक्त करावें।

यह प्रभु की ही कृपा है कि मनुष्य के लिए पत्ते पत्ते और फूल २ में जीवन-रस भर दिया है। यह उस की दूसरी कृपा है कि हमें बुद्धि और ज्ञान दिया है कि हम इन से ठीक ठीक लाभ उठा सकते हैं। अभी असंख्य ओषधियां वनों में तुम्हारे हाथों के स्पर्श की इच्छा कर रही हैं। अपने ज्ञान को लगातार बढ़ाते चले जाओ। इस की कहीं भी समाप्ति नहीं है। देखो वेद के मधुर शब्दों में कितना उत्साह बढ़ाकर तुम्हें बुला रही हैं:—

†(१३) अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः ॥१४९॥ —१७ ॥

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

† अनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

(दिवः) द्यु-लोक से (परि) परे से (अपतन्तीः) नीचे आती हुई (ओषधयः) ओषधियां (अवदन्) कहती हैं (यं) जिस (जीवम्) जीते हुए को (अश्नवामहै) हम पकड़ लेवें (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न) नहीं (रिष्याति) कष्ट उठा सकता।

जो पदार्थ अविद्या के कारण दिखाई नहीं देते, वे वस्तुतः द्यु-लोक से भी परे हैं। सूर्य और चन्द्र का हमें पूरा बोध न हो, पर उन की सत्ता तथा प्रकाश का तो हम नित्य अनुभव करते ही रहते हैं। दूसरी ओर दूभ घास हमारे पांव में खड़ी है। पर, हमें इस के विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं है कि किस रोग में इस का क्या लाभ है। क्या यह हमारे लिए सूर्य और चांद से भी परे नहीं ? पर, जब ज्ञान का प्रकाश होता है, तो हमारी आंखें खुलती हैं। अब चारों ओर यही शब्द है, जो घास का एक २ तिनका आलाप रहा है। जो मनुष्य जीते जी इन का ठीक २ प्रयोग कर सकता है, वह सुख पाता है। जब प्राण पखेरू उड़ जाते हैं, कोई ओषधि लाभ नहीं कर सकती। इस लिए सज्जनो, जीवन की बहु-मूल्यता में विश्वास करो और उन साधनों का ज्ञान प्राप्त करते रहो, जिन के द्वारा इस को तुम पूर्ण सुखी बना सकते हो।

(१४) *या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे ॥१५०॥ —१८॥

(याः) जो (ओषधीः) ओषधियां (सोमराज्ञीः) सोम

* विराडनुष्टुप् छन्दः, शेष पूर्ववत्।

राजा की प्रजा हैं, (बह्वीः) अनेक प्रकार की (शत-विचक्षणाः) सैंकड़ों रूपों वाली हैं (तासाम्) उन सब में (त्वम्) तू, जिसे मैं अब प्रयोग करता हूँ, (उत्तमा) उत्तम (असि) है, (अरम्) पर्याप्त है, (कामाय) मेरी इच्छा को पूर्ण करने के लिये और मेरे रोगी के (हृदे) हृदय के लिये (शम्) कल्याण करने वाली है ।

ओषधियों का कोई अन्त नहीं, पर, वैद्य की बुद्धि की यह परीक्षा है कि विशेष दशा में सब से उत्तम ओषधियों का प्रयोग करता है या नहीं। उसे अपने चुनाव पर पूरा विश्वास होना चाहिये और डांवा डोल भाव से कभी भी चिकित्सा में नहीं लगना चाहिये।

* (१५) या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु। बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्य्यम् ॥ ॥ १५१ ॥ —१६ ॥

(याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों का (सोम-राज्ञीः) सोम राजा है, जो (पृथिवीम्-अनु) पृथिवी पर (वि-स्थिताः) फैली हुई हैं, जिन्हें (बृहस्पति-प्रसूताः) बृहस्पति ने पैदा किया है, वे सब (अस्यै) इस ओषधी को अपना (वीर्यम्) बल (सं-दत्त) देदो।

(१६) † मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः। द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ १५२ ॥ —२० ॥

---

* ऋषि आदि पूर्ववत्।

† ऋषि आदि पूर्ववत्।

हे ओषधियो, (वः) तुम्हारा (खनिता) खोदने वाला (मा रिषत्) मत कष्ट पावे (च) और (यस्मै) जिस के लिए (वः) तुम्हें मैं (खनामि खोदता हूँ (वह सुखी रहे) (अस्माकम्) हमारे (द्वि-पत्) दो पांव वाले मनुष्य तथा (चतुष्पद्) चोपाए, गौ आदि (सर्वम्) सब प्राणी-वर्ग (अनातुरम्) रोग-रहित (अस्तु) रहे ।

* (१७) ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥ १५३ ॥
॥—२२ ॥

(ओषधयः) ओषधियां (सोमेन) सोम (राज्ञा) राजा के (सह) साथ (सं-वदन्ते) सम्मति करके यह निश्चय सुनाती हैं कि (ब्राह्मणः) त्यागी, विद्वान्, तपस्वी, सरल, विप्र, वैद्योत्तम, (यस्मै) जिस के हित के लिये हमें (कृणोति) वर्तता है, (राजन्) हे सोम राजन, (तम्) उस रोगी को (पारयामसि) सब रोगों से हम छुड़ा देती हैं ।

प्यारो, कितने स्पष्ट शब्द हैं और कितना इनमें बल है । कविता का कितना उत्तम आदर्श है । विषय की कितनी गंभीरता है । यह विचारो और वेद के उपदेश को ग्रहण करने का यत्न करो । तुम्हारे घरों में कोई जीव जन्तु रोग से दुःखी न रहना चाहिए । वैद्यों को पूरी तरह आत्मविश्वासी होना चाहिए । उनका ज्ञान पूर्ण हो, उनका भाव शुद्ध हो ऐसा होने से साधारण वस्तुओं से भी विचित्र लाभ हो सकते हैं ।

---

* निचृदनुष्टुप् छन्दः शेष पूर्ववत् ।

* (१८) अंगादंगाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि ।
यक्ष्मं सर्वस्वादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते ॥ १५४ ॥
॥ ऋ० १० । १६३ । ६ ॥

(अंगात्– अंगात्) अंग २ से (लोम्नः–लोम्नः) रोम २ से (पर्वणि–पर्वणि) जोड़ २ में (जातम्) पैदा हुए २ (तं) उस (यक्ष्मम्) राज–रोग को (ते) तेरे (सर्वस्मात्) सब (आत्मनः) शरीर में से (विवृहामि) बाहिर निकालता हूं ।

यह वैद्य का कर्त्तव्य है कि चिकित्सा आरम्भ करने से पूर्व इस बात का पूर्णतया निश्चय कर ले कि रोग का मूल कहां है ? आज कल प्रायः बाह्य चिह्नों का ही इलाज होता है । उस का परिणाम यह हो रहा है कि जातीय शरीर के मूल में रोग घुसता चला जाता है ।

क्षय के अनेक चिह्न हैं और वह वेद के मन्त्रों में बड़े सरल प्रकार से वर्णन किये गये हैं । वैद्य जब देखे कि रोग बहुत बढ़ गया है, तब बड़ी सावधानी से रोग दूर करने का यत्न करे। पर, कभी भी उत्साह न तोड़े और न कभी रोगी के मन में निराशा के विषैले प्रभाव को घुसने दे । वह किस प्रकार उस का दिल बढ़ाता रहे, यह अब आप को सुनाता हूं ।

† (१९) उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।

---

* विवृहा काश्यप ऋषिः, यक्ष्मघ्नं देवता, अनुष्टुप् छन्दः ।

† शन्तातिः ऋषि, आयुष्यम् देवता, अनुष्टुप् छन्दः । आगे नये निर्देश पर्यन्त भी यही समझो ।

उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १५५ ॥

॥ अथर्व० । ४ । १३ । १ ॥

(देवाः) हे परमेश्वर की सब ओर प्रकाश-स्वरूप विभूतियो, (अव-हितम्) गिरे हुए को (उत) भी (उत) ऊपर (पुनः) फिर (नयथ) ले आते हो, (उत) तथा (आगः) कुपथ्य, अपराध (चक्रुषम्) करके (मृतप्राय दबे हुए प्राणी को भी) (पुनः) फिर (जीवयथा) जीवन देते हो ।

अरे भोले, तू क्यों घबरा गया है। तुम्हारा तो अब भी बाल बींका नहीं हुआ । प्रभु ने तो वह शक्तियां यहां पैदा कर रक्खीं हैं कि जिनका दिवाला भी निकल रहा हो, उन्हें भी हाथ देकर बचाया जा सकता है । देखो,

(२०) द्वाविमौ वातौ वात आसिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद् रपः ॥ १५६ ॥

॥—२ ॥

(इमौ) यह (द्वौ) दोनों (वातौ) प्राण और अपान वायु (वातः) चलते हैं, एक (आ-सिन्धोः) समुद्र से और दूसरा (आपरावतः) बड़े दूर प्रदेश से आता है । (अन्यः) एक (ते) तुम्हारे लिए (दक्षम्) बल (आ-वातु) लावे (अन्यः) दूसरा (यद्) जो (रपः) रोग-पाप हैं, उसे (वि-वातु) बाहिर निकाले ।

सिन्धु समुद्र का नाम है । पर यहां तो फेफड़ों के घेरे को ही समुद्र कहा है । जैसे समुद्र गंभीर है, वैसे यह भी गंभीर है । इसका चित्र लेकर कभी देखना, ताकि तुम्हें इस उपमा के महत्त्व का निश्चय हो । बाहिर से जो वायु अन्दर जाता है, वह

दूर से आता रहता है। वायु-मण्डल में सदा परिवर्तन होता रहता है। चक्र चलता रहता है। यह शुद्ध वायु तुम क्या अन्दर ले जाते हो, तुम तो साक्षात् बल और जीवन ही अन्दर प्रविष्ट करते हो। और, जो गन्दी होकर वायु बाहर जाती है, वह सब मल और रोग साथ ले जाती है।

(२१) आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥१५७॥ ॥—३॥

(वात) हे वायो, (भेषजम्) इलाज, उचित दवाई को (आ-वाहि) अपने साथ ले आ, (यद् रपः) जो रोग है (विवाहि) उसे दूर ले जा, (हि) क्योंकि (त्वम्) तू (देवानाम्) देवताओं का (दूतः) दूत बनकर (विश्व भेषज) हे सब औषधियों के सार, (ईयसे) चल रहा है।

वायु में सारे औषध-सार मौजूद हैं। शुद्ध वायु सौ दवा-इयों की एक दवाई है। इसका अच्छी तरह से सेवन करते रहो। ऐसा करने वाले के समीप रोग कम आता है।

(२२) त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ १५८ ॥
॥—४ ॥

(इमम्) इसे (देवाः) देवता, (मरुतां गणाः) वायुगण, (विश्वा-भूतानि) सारे प्राणी (त्रायन्ताम्) बचावें, (यथा) ताकि (अयम्) यह (अ-रपाः) रोग-रहित (असत्) हो जावे।

मेरे प्यारे, तू डरता क्यों है?

(२३) आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः। दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ १५९ ॥

॥—५॥

(त्वा) तेरे पास (आ-अगमम्) मैं आ गया हूं (शन्तातिभिः) कल्याण-विस्तारी (अथ-उ) तथा (अरिष्टतातिभिः) स्वास्थ्यप्रद गुणों को साथ लाया हूं। (ते) तुझे (उग्रम्) बढ़े हुए (दक्षम्) बल को (आ-अभारिषम्) लाकर देता हूं, (ते) तेरे (यक्ष्मम्) रोग को (परा) दूर (सुवामि) भगाता हूं।

क्या तुम्हें मेरे ऊपर विश्वास नहीं है ?

(२४) अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥१६०॥ ॥—६॥

(अयं) यह (मे) मेरा (हस्तः) हाथ (भग-वान्) ऐश्वर्य वाला है (अयम्) और यह दूसरा (भगवत्तरः) और भी अधिक बल से युक्त है। इस मेरे हाथ में (विश्वभेषजः) सब इलाज छिपे हुए हैं और यह दूसरा (शिव-अभिमर्शनः) छूने से ही कल्याण करदेता है।

* (२५) हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी। अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि ॥ १६१ ॥ ॥—७॥

मेरे हाथों में (दश-शाखाभ्याम्) दस शाखा हैं, मेरी जिह्वा (वाचः) शब्द से (पुरोगवी) पहिले हिलने वाली है। (अनामयि-

*तीसरे पाद में अक्षर अधिक हैं।

त्नुभ्याम्) रोग दूर करने वाले (ताभ्याम्) उन (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझे (अभि-मृशामसि) छूता हूं।

जब शब्द उच्चारण करना होता है, जिह्वा उचित स्थान के समीप पहिले ही जा पहुंचती है। वैद्य का यह अभिप्राय है कि मेरे पास कोरे शब्द ही नहीं, वरन् पुरुषार्थ और क्रिया भी साथ करता हूं। मेरे दोनों हाथ जिह्वा के साथ सहायक होकर तुम्हें उठा रहे हैं। उठो २ बहुत समय चला गया। रोग गया अब नीरोग हो गये हो।

महात्मा जब यह मंत्र पढ़ रहे थे, तो सारे सुनने वाले ऐसे चुप थे, जैसे सो रहे हों। वहां और किसी प्रकार का शब्द नहीं था। ज्योंही उन्होंने अपने अन्तिम वाक्य को समाप्त किया, सब को कुछ विचित्र दशा का अनुभव हुआ। जिस तरह हम एक मिनट के लिए अपने कानों में अंगुलियां डाल कर एकाएक उन्हें निकाल लें, तो एक विशेष जागृति सी प्रतीत होती है, वैसे ही महात्मा के उपदेश के सुनने वालों को भी जान पड़ा।

सत्य०—महाराज, पिछले आधे घण्टे में तो हम ऐसे रहे जैसे कि किसी जादूगर के कमरे में बन्द हो रहे हों। हमें अपना आप भूल सा रहा था।

महा०—सज्जनो, इसी प्रकार के मंत्रों के आधार पर मानसिक चिकित्सा का विस्तार हो सकता है। यह मत समझो, कि यह कोई नयी विद्या है, जिसे पश्चिमी विद्वान् जहाज़ों में भर कर यहां भेज रहे हैं। और, इसी प्रकार सुनो।

* (२६) इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह । दूतौ यमस्य मानुगा अधि जीवपुरा इहि ॥ १६२ ॥

॥ अथर्व । ५ । ३० । ६ ॥

हे पुरुष ! (इह) यहां, इस जीवन में (सर्वेण) सम्पूर्ण (मनसा) मन के (सह) साथ (एधि) वर्तमान हो । (यमस्य) यम=मृत्यु के (दूतौ) दिन रात रूपी दूतों के (अनु) पीछे (मा) मत (गाः) जा । उन्हें जाने दे, तू यहां स्थिर रहो, (जीवपुराः) जीवित-नगरों में (अधि-इहि) स्थापित हो ।

(२७) अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः । आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोयनम् ॥ १६३ ॥　॥—७ ॥

(अनुहूतः) में तुम्हें बुलाता हूं (पुनः) फिर (आ इहि) उठ कर आ । तू (पथः) जीवन मार्ग का (उद्-अयनम्) चढ़ाई, (आरोहणम्) ऊंचाई, (आ-क्रमणम्) कूद तथा (जीवतः-जीवतः) प्रत्येक जीवित प्राणों के (अयनम्) गति-प्रकार को (विद्वान्) जानता है । तू किस भ्रम में पड़ा है ? तुम्हें किसने गिरा रखा है ? तू क्यों नहीं बोलता ? उठ ।

(२८) मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वाम् । निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अंगज्वरं तव ॥१६४॥　॥—८॥

---

* उनमोचन (आयुष्कामः) ऋषिः, आयुष्यदैवतम्, प्रथमोऽनुष्टुप् छन्दः । इसी प्रकार इस सूक्त के दूसरे उद्धृत मंत्रों में भी छन्द का ही थोड़ा बहुत अन्तर होगा ।

(मा) मत (बिभेः) डर, (न) नहीं (मरिष्यसि) मरेगा। (त्वाम्) तुझे मैं अपनी शक्ति से (जरत्-अष्टिम्) बुढ़ापे तक स्वस्थ रहने वाला (कृणोमि) बनाता हूं। (तव) तेरे (अंगेभ्यः) अंगों से (अंग-ज्वरम्) अंगों के ज्वर तथा (यक्ष्मम्) क्षय को (निः-अवोचम्) डांट कर बाहिर निकालता हूं।

(२९) अंगभेदो अंगज्वरो यश्च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम्॥१६५॥ ॥—६॥

तुझे जो (अंग-भेदः) अंगों के टूटने, (अंग-ज्वरः) अंगों की पीड़ा तथा (हृदय-आमयः) हृदय के रोग का कष्ट है, वह (यक्ष्मः) क्षय-रूप (वाचा) मेरी वाणी से (साढः) दब कर (श्येनः) बाज पक्षी की तरह (परस्तराम्) बहुत दूर (प्र-अप्तत्) भाग गया है।

(३०) अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि॥१६६॥ ॥—११॥

(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि-देवता (उप-सद्यः) सेवा करने योग्य है, (इह) यहां (ते) तुझ पर (सूर्यः) सूर्य (उदेतु) प्रकाश करे। (गम्भीरात्) गहरे (कृष्णात्-चित्) अति काले (तमसः) अन्धकार-रूपी (मृत्योः) मृत्यु से (परि) छूट कर (उत्-एहि) ऊपर उठ कर आ।

अग्नि और सूर्य की सेवा से संसार में क्या २ आश्चर्य हो रहा है, इस का विचार करो। यह वेद का महत्त्व है कि यह भौतिक चिकित्सा तथा प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा

जितने लाभ हो सकते हैं, उन की ओर सारे ही संसार के साहित्य तथा विचार से पूर्व ही हमारी प्रवृत्ति कराता है।

सत्य०—महाराज, इतिहास की पुस्तकों में लिखा है कि प्राचीन वेद के मानने वाले अग्नि आदि की पूजा किया करते थे। क्या यह ठीक है ?

महा०—जिस भाव से अभी मैंने कहा है, उसी से प्रेरित हो कर हमारे पूर्वज इन विभूतियों से न केवल शारीरिक लाभ उठाते थे, वरन् इनके चमत्कार में इनके स्वामी का चमत्कार भी देखते थे।

वस्तु०—नहीं, महाराज, वह तो यह बतलाना चाहते हैं कि प्राचीन लोग अग्नि आदि से डर कर इनके आगे माथा निवाया करते थे।

महा०—यह उनकी धींगा धींगी है। इस में हमारा अपना ही अपराध है। आज हम उक्त प्रकार से कुछ सुधर जावें, तो आज ही संसार हमारा लोहा मानने लगेगा। हम अपनी गिरावट से अपने चमकते हुए पूर्वजों को भी लज्जित कर रहे हैं। दूसरे लोगों को देखते हुए हमें हमारे पूर्व पुरुषों के महत्त्व पर विश्वास जम नहीं सकता। आज सारा संसार अग्नि आदि की सेवा कर रहा है। पर इसे कोई पूजा नहीं कहता। कभी यह भौतिक चिकित्सा के नाम से प्रसिद्ध होती है, और कभी मनुष्य के ऐश्वर्य का चिह्न बतलाया जाता है। अस्तु, यत्न करो कि तुम्हारे पूर्वजों को भी लोग इसी तरह समझें।

वस्तु०—भगवन्, बहुत से भारतवासी विद्वान् भी यही समझते हैं।

महा०—अरे, जानेदो। परतन्त्र जातियों को जूठ खाने में ही आनन्द प्रतीत होता है। उन के लिये प्रतिबिंब ही असल की तरह समझा जाता है। भला हो स्वामी दयानन्द का, कि जिस ने फिर हमें सीधे मार्ग पर डाल कर अपने इतिहास के चमकीले पृष्ठों के दर्शन कराये हैं। सुनो, किस प्रकार अपने मनोबल को साथ जोड़ कर वैद्य रोगी को पुनर्जीवित कर देता है।

(३१) प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन। वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत्॥ ॥ १६७ ॥ —१४॥

अग्ने ! प्राण से, (चक्षुषा) देखने की शक्ति से (इमम्) इसे (सं-सृज) युक्त कर दे। (तन्वा) शरीर के साथ (बलेन) बल के साथ (सम्-ईरय) युक्त करके इसे उठा दे। (अमृ-तस्य) अमृत को (वेत्थ) तू समझ। (नु) निश्चय कर (मा) मत (गात्) यह जावे=मरे (नु) और न ही (भूमि-गृहः) भूमि रूपी घर वाला (भुवत्) बने।

यह मनुष्य की बुद्धि का ही विकास है, जो इतने विशाल और भांति २ के भवन दिखाई देते हैं। दूसरे सब प्राणी पृथिवी में ही बिल आदि बना कर निवास करते हैं। अकाल-मृत्यु पाप का परिणाम है। उस के पश्चात् नाना योनियों में घूम २ कर कष्ट ही पाना है। अतः वेद-माता उपदेश करती है कि मनुष्य दीर्घ काल तक अपने जीवन को स्थिर रख कर

मुक्त होने का ही यत्न करें। मनुष्य-जन्म तभी सफल समझो, जब हम इस को छोड़ते समय इसके ऊपर सद्गति को लाभ करेंगे, नीचे गढ़े में नहीं गिरेंगे।

* (३२) मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोपिधायि ते । सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः ॥ १६८ ॥
—१५ ॥

(ते) तेरा (प्राणः) (मा) मत (दसत्) क्षीण हो (मा उ) और न (ते) तेरा (अपानः) अपान (अपि-धायी) बन्द हो। (त्वा) तुझे (सूर्यः) (अधिपतिः) राजा (मृत्योः) मृत्यु से (रश्मिभिः) किरणों के द्वारा (उद्-आयच्छतु) ऊपर उठाए।

प्यारो, सूर्य की किरणों से बढ़ कर क्षय-रोग से मरते हुए रोगी के लिए दूसरा और कोई पदार्थ जीवन का दाता नहीं है। आज सूर्य-स्नान की महिमा सारे अनुभवी, विज्ञान-वेत्ता गा रहे हैं। मृत्यु एक गहरा गढ़ा है। सूर्य भगवान् अपनी किरणों की रस्सियों से प्राणियों को उस से बाहिर खींच रहा है। कितना सुन्दर रूपक बांधा है।

† (३३) इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा । त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः ॥ १६९ ॥
—१६ ॥

---

* उन्मोचन ऋषि, प्राणदेवतम्, अनुष्टुप् छन्दः ।

† उन्मोचन ऋषिः प्राणदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः ।

(इयम्) यह (जिह्वा) (पनिष्पदा) सदा हिलने वाली (अन्तः) अन्दर (बद्धा) बांधी हुई (वदति) बोलती है। (त्वया) तेरे द्वारा (यक्ष्मम्) क्षय-रोग तथा (तक्मनः) ज्वर की (शतम्) सैंकड़ों (रोपीः) पीड़ाओं को (निः-अवोचम्) मैंने बाहिर निकाल दिया है।

* (३४) अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः। यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे । स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७० ॥ —१७॥

(अयम्) यह (लोकः) लोक (देवानाम्) देवताओं का (प्रियतमः) अत्यन्त प्यारा (अपराजितः) सदा हार से रहित है। (यस्मै) जिस (मृत्यवे) मौत के लिये (इह) यहां पर (दिष्टः) संकल्प हुआ २ (पुरुष) (त्वम्) तू अपने आप को (जज्ञिषे) समझता है, (सः) वह (च) और हम (त्वा) तुम्हें (अनु-ह्वयामसि) बुलाते हैं, (जरसः) बूढ़ेपन से (पुरा) पूर्व (मा) मत (मृथाः) मरना।

इस मंत्र के साथ यह मानसिक शक्ति का भण्डार-रूप सूक्त समाप्त होता है। देवता कौन हैं? सृष्टि में प्रभु की विभूतियां और समाज में विद्वान्। दोनों को यह मनुष्य-जन्म अति प्रिय है। मनुष्य ही भौतिक ज्योतियों की ज्योति से आगे ज्योति जगा सकता है। यह उसी को सौभाग्य प्राप्त है कि सृष्टि में जैसे देवता यज्ञ करते हैं, वैसे वह भी करने लग जाता है।

---

* उन्मोचन ऋषि, प्राणदैवतम्, जगतीछन्दः।

इसी कर्म-भूमि में प्रवेश करके जीव देव-कोटि को लाभ करते हैं। इस में कर्म प्रधान है और कर्म-वीर को कभी हार का मुँह नहीं देखना पड़ता। उस के लिये सदा जीत ही जीत है।

रोगी समझे बैठा था कि मेरा मृत्यु के नाम संकल्प पढ़ा जा चुका है। पर योग्य वैद्य उसे पांव पर खड़ा कर दिखाता है। साक्षात् मृत्यु, मानो, उसे आकर कहती है कि 'मेरे यहां भण्डार भरा है। तेरी कोई आवश्यकता नहीं। तू उठ, बल पैदा कर और अब वृद्ध होकर, अपने लक्ष्य को पूरा करके ही मुझे बुलाना।

सज्जनो, मानसिक बल के एक विभाग का अब तक वर्णन आपने सुना है। वैद्य में जितना यह अधिक होगा, उतना ही उसके रोगी आसानी से नीरोग होंगे पर, वैद्य की अपेक्षा रोगी में इसका होना और भी आवश्यक है। वैद्य का प्रभाव भी तब ही सफल होगा, यदि रोगी स्वयं भी उठने की इच्छा करने वाला होगा। संसार में मनस्वी लोग प्रथम तो रोग ग्रस्त ही कम होते हैं और जब कभी अनवधानता से हो भी जाते हैं, तो शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं। कम से कम, वह कभी घबराते नहीं। जब पूछो, आशा से भरा हुआ उत्तर ही उनके होठों पर होगा। इस विषय में आपको वेद के मन्त्रों से ही अपना भाव बतलाता हूँ।

* (३५) वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १७१ ॥

अथर्व। ३। ३१। १।

* ब्रह्म ऋषिः, पाप्महदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः।

(देवाः) देवता (जरसा) बुढ़ापे से (वि-अवृतन्) पृथक् रहते हैं (अग्ने) हे अग्ने, (त्वम्) तू (अ-रात्या) संकोच से पृथक् रहता है, इसी तरह मैं भी दृढ़ संकल्प करता हूँ कि (अहम्) मैं सदा (सर्वेण) सब प्रकार के (पाप्मना) पाप से (यक्ष्मेण) तथा रोग से (वि) अलग रहूँगा, (आयुषा) लम्बी आयु से (सम्) युक्त रहूँगा।

देवता कभी बूढ़े नहीं होते। जब देखो उसी तरह अपने कार्य करते हुए दिखाई देते हैं। मनुष्यों में भी जो देवता हैं, वे भी बूढ़े नहीं होते। गोतम, कणाद और व्यास ऐसे देवता थे। आज से हज़ारों वर्ष पूर्व जैसा उनका यौवन था, वैसा ही आज भी है। राम और कृष्ण देवता थे, अभी तक वे बूढ़े नहीं हुए। जब तक सूर्य और चन्द्र का प्रकाश बना रहेगा, वे बूढ़े नहीं होंगे। अग्नि में संकोच नहीं होता। कपड़े को लगाओ, लकड़ी को लगाओ, राज-भवन हो या झोंपड़ा हो, वह सब को एक जैसे भस्म कर देती है। ऊंच और नीच की इस के दरबार में भेद भावना नहीं पायी जाती। अग्नि से कौन नित्य शिक्षा ग्रहण करते हैं? जिन के यहां प्रति दिन अग्निहोत्र होता है। वे वही जन होंगे, जो उत्तम २ घृत आदि पदार्थों को जलाने से संकोच न करेंगे, जो लम्बे चौड़े हिसाब नहीं करेंगे। जिनसे जितना बन पड़ता है, सच्चे भाव से युक्त होकर करने का ही यत्न करेंगे।

देवताओं का सदा युवा रहना और अग्नि का संकोच से अलग रहना स्वभाव-सिद्ध है। इन में परिवर्त्तन नहीं होसकता।

इसी तरह प्रत्येक नर नारी सदा यह भावना किया करें कि हम स्वभाव से ही पाप तथा रोग से मुक्त तथा दीर्घ आयु आदि स्वास्थ्य के चिह्नों से युक्त हैं। नित्य ऐसा करते रहने से जब कभी कोई पाप-विचार आक्रमण करना चाहेगा, मन उसे तुरन्त रोक देने की ओर लग जावेगा। यदि कभी लताड़ हो भी गयी, तो खड़ा होने में कोई चिर नहीं लगेगा। पुनः उत्साहित होकर, मन उसी तरह सहायक बना रहेगा। इस ज्योति के ऐसे ही जगते रहने से सब प्रकार का अन्धेरा दूर ही रहेगा। इस भावना को दृढ़ करने के लिए इस के आगे वेद कई उदाहरण देकर समझाता है। उन्हें अब संक्षेप से तुम्हारे सामने रखता हूं।

* (२६) व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१७२॥ ॥—२॥

(पवमानः) पवित्र करने वाला (आर्त्या) पीड़ा से और (शक्रः) शक्ति वाला (पापकृत्यया) पापाचरण से (वि) पृथक् २ रहता है। ऐसे ही मैं भी—इत्यादि पूर्ववत्।

पीड़ा किसी पदार्थ के शरीर के किसी भाग में रुके रहने से होती है। अच्छी तरह से न पचे हुए पदार्थ यदि अन्दर ही रहें, तो विषात्मक द्रव्य पैदा होता है। उस से भिन्न २ प्रकार के उपद्रव होकर, भान्ति २ की वेदनाओं से प्राणी कष्ट पाता है। पर पवमान, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ को अच्छे प्रकार शुद्ध करके प्रयोग करने वाले के शरीर में इस प्रकार का दोष नहीं होता।

---

* ब्रह्म ऋषिः, पाप्महदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः।

पाप कौन करता है ? जिसमें इतना बल नहीं होता कि विषय वासना या चित्त की चंचलता को रोक सके। काम, क्रोध आदि के वेगों का शिकार प्रायः दुर्बल जितना होते हैं, उतना वीर-पुरुष नहीं होते । वे सदा पाप से उठे रहते हैं। तभी तो शक्र अर्थात् शक्ति वाला कोई व्यक्ति कहला सकता है। जैसे यह दोनों बातें ठीक हैं, ऐसे ही मेरे अन्दर भी पूर्व वर्णन किया हुआ स्वभाव बना रहे।

* (३७) वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन्। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१७३॥

॥—३॥

(ग्राम्याः) पालतू (पशवः) पशु (आरण्यैः) जंगली पशुओं से (अलग रहते हैं) तथा (आपः) जल (तृष्णया) प्यास से सदा (वि-असरन्) अलग बहते हैं। ऐसे ही मैं भी–इत्यादि पूर्ववत्।

पालतू और शिकारी पशु स्वभाव से अलग रहते हैं । जहां जल सामने बह रहा हो, वहां कोई प्यास से दुःखी नहीं होसकता। जैसे यह स्वभाव सिद्ध है, वैसे ही मैं भी सदा रोग-मुक्त रहूं।

† (३८) वी३मे द्यावापृथिवी इतो विपन्थानो दिशं दिशम्। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥१७४॥

॥—४॥

(इमे) यह (द्यावापृथिवी) द्यु-लोक और पृथिवी (वि-इतः)

---

* ब्रह्म ऋषिः, पाप्महदैवतम्, अनुष्टुप् छन्दः।

† ब्रह्म ऋषिः, पाप्महदैवतम्, भूरिज् अनुष्टुपः छन्दः।

सदा अलग रहते हैं, (दिशं-दिशम्) भिन्न २ दिशाओं में जाने वाले (पंथानः) मार्ग सदा अलग २ रहते हैं। ऐसे ही मेरे से रोग सदा अलग रहे।

पूर्व और पश्चिम को जाने वाले मार्गों का परस्पर क्या मेल? ऐसे ही मैं अविनाशी, नित्य शुद्ध, मेरे पास रोग ने आ कर क्या लेना है?

*** (३९) त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥१७५॥**

—५॥

(त्वष्टा) सब का बनाने वाला, सूर्य (दुहित्रे) अपनी लड़की, उषा के लिए (वहतुम्) रथ को (युनक्ति) जोड़ता है, (इति) इसे देखकर (विश्वम्) सारा (भुवनम्) संसार (वि-याति) अपने २ मार्ग पर चल पड़ता है। ऐसे ही जब यह निश्चय है कि मैंने रोगी नहीं होना, तो अब रोग को अपने अलग मार्ग पर चला जाना चाहिये।

ज्योंही प्रातः काल की पोह, फटती है, और पूर्व की लाली ऊपर उठती २ सुनहरी रंग में बदलती हुई गुम होजाती है, सोया हुआ संसार अपने २ कामों में लग जाता है। जैसे यह स्वाभाविक है, ऐसे ही मेरा सदा स्वस्थ रहना भी स्वाभाविक होना चाहिए। इस प्रकार यह सूक्त आगे भी चला चलता है। पर अब इस समय और नहीं सुनाऊंगा। बहुत बातें आप सज्जनों ने सुन ली हैं। बहुत चिर होगया है। इनका खूब मनन करो।

---

* ब्रह्म ऋषिः पाप्महदैवतम्, विराट् प्रस्तार-छन्दः।

सत्य०—क्या महाराज ! यह विषय पूरा होगया है ?

महा०—नहीं ! पर हमें समय के अनुसार ही तो काम करना चाहिए। शेष कल पूरा कर दिया जावेगा। आज मैंने आप के सामने संक्षेप से चिकित्सा के सम्बन्ध में भिन्न २ बातें बतलाते हुए वैद्यकी शक्ति, ओषधियोंकी शक्ति तथा मानसिक चिकित्सा के विषय में मुख्य-रूप से वेद का सन्देश सुनाया है। कल भी इसी विषय का दूसरा भाग आप के सामने आवेगा । अब जाइए, नमस्ते ।

इति द्वितीये शरीर-सन्देशे चतुर्थ उच्छ्वासः ॥

आदितः सप्तम उच्छ्वासः ।

पंचम उच्छ्वास ।

वैदिक चिकित्सा ।

(उत्तरखण्ड)

मा०—महाराज, मुझे बड़ा शोक है कि कुछ कष्ट के कारण मैं कल अमृत-पान नहीं कर सका । सुना है कल तो आपने वैद्यक विद्याका स्रोत वेद-भगवान् से बहाकर दिखा दिया ।

वस्तु०—बिल्कुल ठीक । पर तुम्हें कैसे पता लगा ?

मा०—वैद्य जी जो आये थे । यहां से उठकर जब वह गये, तो उनकी अवस्था देखने वाली थी । मेरे पूछने पर यही कहने लगे कि मैं निहाल हो गया हूं । मायाराम, तुम सुभागे हो, जो ऐसा उपदेश सुन, रहे हो । मैं पीछे काम इसी तरह छोड़ कर चला आया हूं, नहीं तो कुछ दिन और अवश्य ठहरता ।

महा०—क्या वह चले गये हैं ?

मा०—जी हां । वह आपसे विनय पूर्वक 'नमस्ते' कह गये हैं ।

महा०—बहुत अच्छा । प्रियवरो, आज उसी विषय-सम्बन्धी थोड़े से मन्त्र और सुना कर, इस प्रकरण को समाप्त कर दूंगा । पहिले भौतिक चिकित्सा के मूल मंत्र रखता हूं । स्मरण रक्खो, जिन जल आदि तत्वों द्वारा चिकित्सा का अब प्रचार हो रहा है, उनके इन गुणों का हमारे पूर्वजों को वैदिक ऋषियों के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ २ था ।

* (१) अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १७६ ॥

ऋ० १ । २३ । १६ ॥

यह जल की धाराएं (अध्वभिः) अनेक मार्गों से (यन्ति) बहती हैं, यह (अम्बयः) माता की तरह हमारी रक्षा करने वाली हैं, (अध्वरीयताम्) जो लोग जीवन-यज्ञ में हिंसा से रहित होने की कामना करते हैं, उनकी (जामयः) भगिनियों के समान सहायक हैं, (पयः) जो दूध आदि पीने योग्य पदार्थ हैं, उनके (मधुना) मिठास से (पृञ्चतीः) मुक्त करती हैं।

संसार में जितना सौन्दर्य है जल उसके मूल में है। रंग बरंग के फूल, रसीले ईख आदि पदार्थ तथा पुष्टिकारक दूध आदि सब जल की कीर्त्ति गाते हैं। हमारे शरीर में जल का प्रधान भाग है। इस भाव को वेद की रचना, माता से उपमा देकर अपनी पूर्णता को जतला रही है। कौन चाहता है कि मैं मर जाऊं। यह जीवन एक बड़ा भारी यज्ञ समझो। इसके विध्वंस को यदि रोकना चाहते हो, और इसे निर्विघ्न सिरे तक पहुंचाना चाहते हो, तो जल देवता को इसी तरह अपना सहायक समझो, जैसे भाई के लिए बहिन होती है। कितने स्नेह तथा प्रेम का सम्बन्ध है ! कितना इस उपमा में मृदु रस भरा हुआ है ! क्या जल चिकित्सा का इस से अधिक सुन्दर कविता की भाषा में वर्णन हो सकता है ?

* मेधातिथिः काण्व ऋषिः आपो (जलं) देवता, गायत्री छन्दः।

लोगों ने इस विद्या पर मनों काग़ज़ काला कर डाला है अमेरिका में इस समय अनेक विभागों में बट कर इस विद्या के पण्डित साहित्य लिखते और अनुभव प्राप्त करते हैं। पर उन सब की सम्मिलित सम्मति में इतना बल नहीं है, जितना इस छोटी सी भाव से भरी हुई उपमा में है। वस्तुतः जहां नदियां बहती हैं, वहां सब पदार्थों में मिठास अधिक होता है। प्यारो, तुम्हारे पूर्वज इस रहस्य को ठीक समझ कर ही नदियों के प्यारे थे। अब भी कहीं २ कोई वृद्ध माता अपने पुत्र से यह कहती हुई तुम सुन सकोगे कि मुझे यहां न मरने देना। नदी के किनारे ही मेरा दाह-कर्म करना। कितना दुःख है कि ऐसी देवियां अब हमारे मध्य से बड़ी जल्दी २ उठती चली जाती हैं !

* (२) अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ १७७ ॥　　—१७ ॥

(याः) जो (अमूः) वह जल (उपसूर्ये) सूर्य के समीप (वा) और (याभिः) जिनके (सह) समीप (सूर्यः) सूर्य है, (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञ की (हिन्वन्तु) पूर्णता को प्राप्त करावें।

मेघ तथा वाष्प-रूप में जल पृथिवी से उठकर, सूर्य की किरणों के सम्पर्क से विशेष प्रभाव से युक्त हो जाता है। उसको ठीक २ प्रयोग करके, मनुष्य, जीवन को पूर्णतया

---

* मेधातिथिः काण्व ऋषिः, आपो (जलं) देवता, गायत्री छन्दः।

आनन्द-पूर्वक व्यतीत कर सकता है। भिन्न २ प्रकार के रोगों का उस पर आक्रमण नहीं हो सकता।

*(३) अपो देवीरुपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ १७८ ॥ —१८ ॥

(अपः देवीः) दिव्य जल को (उपह्वये) हम अपने पास बुलाते हैं, जिस के द्वारा (नः) हमारी (गावः) भूमि तथा पशु (पिबन्ति) प्यास बुझाते हैं। (सिन्धुभ्यः) बहते हुए जलों के प्रति (हविः) ग्रहण करने की क्रिया (कर्त्वम्) करनी चाहिए अर्थात् उन का ठीक २ प्रयोग करना चाहिए।

आज पचास वर्ष पूर्व जहां मरुभूमि थी, करीर और कीकर को छोड़ कर और कुछ उगता ही न था, डाकू जातियों का प्रिय निवास-स्थान था, सभ्यता नाम को भी न घुस सकी थी, उस जंगल में नहरों ने मंगल कर दिया है। यह बहते हुए जलों की सच्ची पूजा है। मूर्ख उन के आगे माथा रगड़ते और गुड़ तथा आटा छोड़ते हैं। ऐसा करने से वे न केवल अपना जीवन व्यर्थ खोते हैं वरन् अपने पूर्वजों के चमकते हुए नाम पर भी बट्टा लगाते हैं।

† (४) अप्स्वऽन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥ १७९ ॥ —१९ ॥

---

* मेधातिथिः काण्व ऋषिः, आपो (जलं) देवता, गायत्री छन्दः।

† मेधातिथिः काण्व ऋषिः आपो (जलं) देवता, पुर उष्णिक् छन्दः।

(अप्सु अन्तः) जल के भीतर (अमृतम्) अमृत है, (अप्सु) जल में (भेषजम्) रोग-निवारक शक्ति है, (अपाम्) जल की (उत) ही (प्र-शस्तये) उत्तम कीर्ति के लिए (देवाः) हे विज्ञानियो, (वाजिनः) बलवान् (भवत) बनो।

ज्यों २ विद्या-रसिकों ने जल के लाभों को समझते हुए उस के ठीक प्रयोग से अपने रोगों को दूर किया तथा अन्य प्रकार का सुख पाकर बल प्राप्त किया है, जल की स्तुति ही सर्वत्र होने लग गयी है। अब कौन वैद्य है, कौन डाक्टर है, जो जल-चिकित्सा के प्रति थोड़ा बहुत मान का भाव नहीं रखता? पर वेद का गौरव कितना है? यहे हमारा आदि ग्रन्थ है और बात वह बतलाता है, जो आज बड़ी कठिनता से, चिर काल के अनुभव के पीछे जगत् जानने की इच्छा करता है।

* (५) अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥ १८० ॥

—२० ॥

(सोमः) सब के मन में ज्ञान-रूप प्रेरणा करने वाले प्रभु ने (मे) मुझे (अब्रवीत्) बतला दिया है कि (अप्सु, अन्तः) जल के अन्दर (विश्वा) सारी (भेषजा) ओषधियां हैं (अग्निम्, च) और आग को (विश्व-शम्-भुवम्) सर्वत्र कल्याण करने वाली (च) तथा (आपः) जल (विश्वभेषजीः) सब का इलाज करने वाला है, यह (भी कहा है)।

मत समझो कि अग्नि केवल जलाती है, सब रोगों को

---

* मेधातिथिः काण्व ऋषिः आपो (जलं) देवता, अनुष्टुप् छन्दः।

दूर करके, शारीरिक स्वास्थ्य प्रदान करके, शांति भी देती है। तुम्हें पता है किस तरह एक बार विलायत में आग लग जाने से ही महामारी प्लेग का बीज नाश हो गया था। अनुभव बतलाता है कि हमारे सब से बड़े वैद्य इस पृथिवी पर यही दो देवता, जल और अग्नि हैं।

* (६) आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८१ ॥ —२१ ॥

(आपः) हे जल (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिए (वरूथम्) रोग-विनाशक (भेषजम्) इलाज को (पृणीत) पूर्ण करो, ताकि मैं सर्वथा स्वस्थ हो जाऊं (च) और (ज्योक्) चिर काल तक (सूर्यं) सूर्य को (दृशे) देखने के लिए शक्ति बनी रहे।

सत्य०—महाराज, क्या यह जल आदि पदार्थ हमारी भान्ति सुनते और हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करते हैं?

महा०—नहीं, यह वैदिक-शैली है। यह कविता की भाषा है। तुम्हारे सामने शुद्ध निर्मल नीर बह रहा हो। तुम्हें उस के लाभों का पूर्ण ज्ञान भी हो। तुम अकेले उस के तट पर खड़े हो। विचार करते २ यदि सामने उपस्थित विषय के सम्बन्ध में तुम्हारी जिह्वा हिलेगी, तो तुम्हीं बतलाओ, तुम किस प्रकार का वाक्य बोलोगे?

सत्य०—महाराज, क्योंकि वहां दूसरा कोई सुनने वाला न होगा, और मैं अपने आप को ही सुनाता हुआ जल के

* मेधातिथिः काण्व ऋषिः, आपो (जलं) देवता, प्रतिष्ठा छन्दः।

गुणों का वर्णन करूँगा, जैसे अभी कई मन्त्र आपने भी सुनाये हैं।

महा०—कल्पना करो कि तुम कुछ रोगी भी हो। वैद्य के निर्देश के अनुसार ही तुम वहां घूम रहे हो और शुद्ध जल के दो घूगट भी भर लेते हो। अब किस प्रकार बोलोगे?

सत्य०—अब मुझे अपने स्वास्थ्य का मुख्य विचार होगा। मेरी प्रबल इच्छा जल को जगा २ कर सुनाना चाहेगी। और मैं कहूंगा कि हे जल तू मेरी रक्षा कर सकता है।

महा०—जब साधारण व्यक्ति अपने ध्यान में मग्न होकर इस प्रकार शब्द बोलता है, तो फिर ऋषियों को तो अवश्य इसी रचना की ओर अन्दर से प्रेरणा होनी चाहिये। तुम्हें पता होना चाहिये कि यह काव्य की उत्तम कोटि का लक्षण गिना गया है। जिन कवि सम्राटों ने नगरों के बन्द जीवन से बाहिर निकल कर, खुले मैदानों में, पर्वतों के ऊपर, नदियों के तट पर, चांद की चांदनी में तथा और किसी प्रकार की स्वाभाविक परि-स्थिति में कविता की है, उनकी वाणी ऐसे ही चली है।

मा०—और, यह जो कहते है कि इन सब में पृथक् २ चेतन देवता हैं, उन से यह प्रार्थनाएं की जाती हैं, क्या सर्वथा भ्रम ही है?

महा०—कुछ समझ लो। जो बात थी, बता दी है। जब से हमने स्वतन्त्र जीवन का आनन्द छोड़ा है, नियत कर्म-काण्ड के बे-ढब चक्र में अन्धाधुन्द फंसे हैं, तभी से वेद का स्वाभाविक अर्थ भी हमसे परे चला गया है। चेतन पूजनीय देव एक पर-

ब्रह्म है। शेष सब देवता उस की विभूतियां हैं। जब हम एकान्त में इनके साथ रमण करते हैं, तो पूर्वोक्त प्रकार से इन्हें बुलाते, इनके साथ हंसते, कूदते और इनके आगे ही अपने हृदय के भावों को प्रकट करते हैं। इन भावों को सदा अपने मन में रख कर वेद के पवित्र उपदेश से अपने ज्ञान को बढ़ाओ, अस्तु तुम्हारे सामने इसी प्रकार और मन्त्र रखता हूं।

* (७) ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शंयोः। यूयं हि ष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः ॥ १८२ ॥ ऋग् ६। ५०। ७॥

(आपः) हे जल-धाराओ, (तोकाय) पुत्र (तनयाय) पौत्र आदि सन्तान के लिए (ओमानम्) ऐसी रक्षा (धात) धारण करो, जिसे (अमृक्तम्) कोई छेड़ न सके, (शम्) रोगों को जो शान्त करने वाली तथा (योः) आने वाली व्याधियों को दूर भगाने वाली हो (यूयम्) तुम ही (हि) क्योंकि (मानुषीः) मनुष्य से सदा हित करने वाली (भिषजः) उसके लिये वैद्य के स्थान पर हो। तुम (मातृ-तमा) माता के सर्वोत्तम गुणों से युक्त हो। तुम (विश्वस्य) सारे (जगतः) चर और (स्थातुः) अचर संसार की (जनित्रीः) उत्पत्ति में सहायक हो।

जल के उचित प्रयोग से दो लाभ इस मन्त्र में बताये गये हैं। जो मनुष्य नित्य स्नानादि से बाह्य शुद्धि को करता हुआ, आवश्यक परिमाण में शुद्ध जल को पीकर अन्दर की नस,

* ऋजिश्वा ऋषिः, विश्वेदेवा (जलं) देवता, त्रिष्टुप् छन्दः।

नाड़ियों को अनुचित ताप और दबाव से बचाये रखता है, उस से रोग अधिक मित्रता गांठने का साहस ही नहीं करता । जब कभी रोग सिर पर आ भी धमके, तब भी जल द्वारा उस का अनेक प्रकार से निवारण हो सकता है। जैसे माता का स्नेह कभी भी कठोरपन से दूषित नहीं होता, वैसे ही जल चिकित्सा सदा शान्ति तथा मिठास से युक्त रहती है। घोर से घोर रोग की दशा में भी चित्त घबराता नहीं ।

* (८) सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्यः १स्थन । दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥१८३॥
अथर्व ६ । २४ । ३ ॥

हे नदियो, जिन का (सिन्धु-पत्नीः) समुद्र पति तथा (सिन्धु-राज्ञीः) राजा है, (याः) जितनी तुम (सर्वाः) सारी (नद्यः) नदियां (स्थन) हो (नः) हमें (तस्य) सर्व प्रकार के रोग की (भेषजम्) औषध (दत्त) दो, (तेन) तभी हम (वः) तुम्हारी सहायता से (भुनजामहै) ठीक प्रकार से भोजन आदि का भोग कर सकेंगे ।

वेद के सामने गन्दे पानी से भरी हुई नदियां नहीं । यह हमारी आज कल की बड़ी चढ़ी हुई सभ्यता का दोष है कि हम इन्हें अपने लाभ के लिए भी ठीक नहीं रख सकते । ऊपर पर्वतों में नदियों का जल, क्या सुन्दर, मीठा तथा स्वास्थ्य-प्रद होता है ।

---

* कंताति ऋषिः अब्देवता अनुष्टुप् छन्दः ।

समुद्र नदियों का पति है। वही इन की रक्षा करता है। उसी का जल वाष्प बन कर ऊपर चढ़ता और फिर पर्वतों पर बरसता है। वही सरों और पोखरों के रूप में प्रकट होकर नदियों का स्रोत बन जाता है। समुद्र इनका राजा भी है। तभी तो दिन रात अपनी सारी पूंजी उसी के कोष में ला २ कर डालती रहती हैं।

सब पदार्थों को बराबर करके, पेट में पकाकर रस रूप बनाना जल की सहायता से ही होता है। जिस समय हमारे अन्दर जल कम जाता है, गर्मी बढ़ जाती है। जिह्वा सूखने लगती है। खटास पैदा हो जाती है। माथे में चक्र आने लगते हैं। और अनेक प्रकार के उपद्रव खड़े हो जाते हैं।

* (९) शं न आपो धन्वन्याः३शमु सन्त्वनूप्याः। शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ १८४ ॥ अथर्व १।६।४॥

(नः) हमारे लिए (धन्वन्याः) रेतीले स्थान के जल, (अनूप्याः) जल-प्रधान स्थान के जल, (खनित्रिमाः) कुएं आदि के रूप में भूमि से निकले हुए जल, (कुम्भे आभृताः) घड़े आदि पात्रों में भर कर रखे हुए जल और (वार्षिकीः) वर्षा के जल (शम्) कल्याणकारी हों।

इस मन्त्र में जल को एक और प्रकार से पांच भेदों में प्रकट किया है। वैद्य लोग भली भांति इस बात को जान सकते

---

* सिन्धुद्वीपं ऋषिः, स्वास्थिक देवता, पथ्यापङ्क्ति छन्दः।

हैं कि किस मनुष्य के लिए कब, कौन सा जल गुणकारी हो सकता है। पर इस में कोई सन्देह नहीं कि इन जलों के गुण में बड़ा अन्तर पाया जाता हैं। इस मन्त्र में वर्णन किये हुए जल का जिन प्रदेशों में मुख्य प्रयोग होता है उनके रहने वालों को देखते ही इस बात का परिचय मिल जाता है। इन मुख्य विभागों के आगे फिर सैकड़ों भेद हैं। उदाहरण के लिये पात्र की बात ही ले लो। मिट्टी, लोहे, तांबे, जस्त, सोने आदि के बने हुए पात्रों में भर कर रखने से जल के गुण में भेद हो जाता है। भूमि को खोद कर जो जल निकाला जाता है, वह भी भिन्न २ प्रकार के गुणों से युक्त होता है। यह वैद्यों का काम है कि अपने अनुसन्धान से अनुभव प्राप्त करें। पश्चिम के लोगों की तरह इस ओर हमारे विद्वानों को भी लगना चाहिए।

* (१०) अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोपोच्छतु ॥ १८५ ॥
अथर्व ६। ८३। १॥

(अप-चितः) हे हानिकार व्याधियो, (प्र पतत) दूर भाग जाओ, (इव) जैसे (सु-पर्णः) तेज़ उड़ने वाला पत्ती (वसतेः) अपने घोंसले से निकल जाता है। (सूर्यः) सूर्य (भेषजम्) इलाज (कृणोतु) करे (वा) तथा (चंद्रमाः) चन्द्र (उप-उच्छतु) समीप हो कर प्रकाश करे।

सूर्य और चन्द्र की किरणों का जिस शरीर पर निरन्तर खुला प्रभाव होता रहता है, उसके अन्दर रोग को अनुकूल

---

* अंगिरस् ऋषिः, मन्त्रोक्ता देवता, अनुष्टुभ् छन्दः।

परिस्थिति नहीं मिलती। सूर्य की धूप से पूर्व और पश्चिम के लोगों ने थोड़ा बहुत इलाज के अन्दर लाभ उठाने का यत्न किया है। पर अभी बहुत कुछ करना है। रश्मियां गर्म होती हैं और चान्द की किरणें ठण्डक सी पैदा करती हैं। अभी तक चन्द्र-चिकित्सा के विषय में हमारा अनुभव न होने के बराबर है। इन दोनों प्रकार की किरणों के मेल से किस तरह शरीर में बिजली सी पैदा होती है और उस से किस तरह भिन्न २ रोगों को दूर किया जा सकता है, यह अभी जानना है। क्या तुम अनुभव नहीं करते कि वेद में इस प्रकार के सूक्ष्म और संक्षिप्त संकेतों का पाया जाना एक असाधारण महत्त्व की बात है? चन्द्र का समीप प्रकाश तब ही हो सकता है जब खुले स्थान पर वस्त्र खोल कर उसकी किरणों को ग्रहण किया जावे। अग्नि और सूर्य रोगों के अनेक प्रकार के कीड़ों का नाश करने में बड़े सहायक हैं।

वस्तु०—महाराज, क्या वेद में रोग-जन्तुओं का भी वर्णन पाया जाता है?

महा०—मूल रूप से अवश्य मिलता है और उन के इलाज को भी वहां देखकर वेद का गौरव प्रतिष्ठित होता है। इसी विषय को अब मैंने छेड़ना था। सुनोः—

* (११) ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि॥ १८६ ॥
अथर्व ५। २३। ५॥

---

* कण्व ऋषिः, इन्द्र देवता, अनुष्टुभ् छन्दः।

(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (शिति-कक्षाः) नीली बग़लों वाले, (कृष्णाः) कालेरंग वाले, (शिति-बाहवः) नीली भुजाओं वाले (ये के च) और, और भी सारे (विश्व-रूपाः) भिन्न २ आकारों वाले हैं (तान्) उन सब का (जम्भयामसि) नाश करते हैं।

कुछ रोग-जन्तु दिखाई भी नहीं पड़ते। पर सूर्य की किरणों से वह नहीं छिप सकते, सूर्य किस प्रकार उनको नाश करता है, यह अगले मन्त्र में कहा है—

*** (१२) उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।**
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ १८७ ॥

—६ ॥

(पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (सूर्यः) सूर्य (उत्-एति) उदय होता है। (विश्व-दृष्टः) सब उस को देखते हैं। (अदृष्टहा) जो सूक्ष्म रोग-जन्तु हमें दिखाई नहीं देते, उन्हें नष्ट करता है (दृष्टान्) दिखाई देने वालों को (घ्नन्) मारता हुआ (च) (अदृष्टान्) न दिखाई देने वाले (सर्वान्) जितने प्रकार के भी हैं, उन सब (क्रिमीन्) जन्तुओं को (प्रमृणन्) नष्ट करता हुआ सूर्य उदय होता है।

† (१३) सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १८८ ॥

—१३ ॥

---

* कण्व ऋषि, ऐन्द्र देवता, अनुष्टुभ् छन्दः।

† कण्व ऋषिः, इन्द्र देवता, विराज् छन्दः।

(सर्वेषाम् क्रिमीणाम्) सारे नर जन्तुओं तथा (सर्वासां क्रिमीणाम्) सारी मादा जन्तुओं का (शिरः) सिर (अश्मना) पत्थर के समान दबाव डालने वाले पदार्थ से (भिनद्मि) कुचलता हूँ (अग्निना) अग्नि द्वारा (मुखम्) उनके सर्व-नाशक मुख को (दहामि) भस्म कर डालता हूँ।

जब तक इस प्रकार के शत्रुओं का नाश न किया जावे, तब तक कल्याण नहीं हो सकता। अग्नि का प्रभाव बताकर पुनः एक और मंत्र सुनाता हूँ।

* (१४) उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १८९ ॥

अथर्व ६। ५२। १॥

(विश्वदृष्टः, अदृष्टहा) सब को दिखाई देने वाला, अदृश्य रोग-जन्तुओं को मारने वाला (आदित्यः) नाश-रहित (सूर्यः) सूर्य (दिविः) द्यु-लोक से (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (उत्-एति) उदय होता है (पुरः) अपने आगे २ (रक्षांसि) नाना प्रकार के रोग-क्रिमियों को (निजूर्वन्) नष्ट करता जाता है।

ज्यों २ सूर्य चढ़ता जाता है, उसका प्रकाश अधिक तीव्र होता जाता है, त्यों २ सब विषैले क्रिमि उसके ताप को न सह कर तड़पते हुए मर जाते हैं। तपदिक, प्लेग, विषूचिका, हैज़ा, आदि भयंकर रोगों के बीज को सूर्य ही नाश करता है। सूर्य

---

* कण्व ऋषिः, इन्द्र देवता, विराज् छन्दः।

की धूप में बैठना तथा टहलना नये जीवन को ले आता है। सूर्य, जल, वायु द्वारा चिकित्सा पर पैसा भी नष्ट नहीं होता और लाभ ही लाभ होता है। मर्यादा के अनुसार इन तत्वों को सेवन करने से मनुष्य दीर्घायु को लाभ कर सकता है। यह हमारे पूर्व ऋषियों की महिमा है कि उन्होंने इस स्वाभाविक, खुले जीवन को धर्म के रूप में उपस्थित किया।

सत्य०—महाराज! साधु, महात्मा प्राणायाम की बड़ी महिमा गाते हैं। क्या इसके द्वारा भी रोग नष्ट हो जाता है।

महा०—अभी मैंने भौतिक चिकित्सा का वर्णन करते हुए, शुद्ध वायु के सेवन की आवश्यकता बतायी थी। प्राणायाम के द्वारा हम वस्तुतः अपने फेफड़ों को स्वास्थ्यप्रद तथा जीवन के आधार-भूत वायु से स्नान करा देते हैं। इस विद्या के महत्त्व को अब पश्चिम के लोग भी समझने लगे हैं। प्राणबल को बढ़ा कर नया जीवन पैदा होता है, इसे न केवल भारतीय ऋषि जानते ही थे, वरन अपने आचरण में लाकर उत्तम फल को लाभ भी करते थे। वेद में इसका मूल पाया जाता है। बड़ी सुन्दरता से प्राणशक्ति के गौरव को वहां पर प्रकट किया गया है। कुछ मंत्र सुनाता हूं।

* (१५) या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ १९० ॥

अथर्व ११ । ४ । ९ ॥

* भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राणदेवता, अनुष्टुप् छन्दः ।

हे प्राण (या) जो (ते) तेरा (प्रिया) प्यारा (तनूः) विस्तार-रूप स्वरूप है * (या-उ) और, जो (प्रेयसी) और भी प्यारा स्वरूप है (अथ-उ) और इस हेतु (यद्) जो (तव) तेरे अन्दर (भेषजम्) रोग-नाशक बल है (तस्य) उसे (नः) हममें (धेहि) धारण कर, ताकि (जीवसे) हम अधिक काल पर्यन्त सुख-पूर्वक जी सकें ।

प्राण का स्वरूप विस्तार है । जब हम श्वास लेते हैं, तो यह हमारे अन्दर भरपूर हो जाता है । इससे हमारा जीवन बना रहता है, और जब प्राण-धारण करने की शक्ति कम होने लगती है, हमारा समय समीप आता है, तो हमें दुःख होता है । पर इससे भी अधिक प्यारा स्वरूप प्राण का वह है, जब यह और भी विस्तार-शील होकर, हमारे सब मलों को भस्म कर देता है । यह वह भट्टी तपाता है, जिसमें सारे रोग जल जाते हैं । इन्द्रियां शुद्ध होकर धर्म-कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं । यही प्राण के अन्दर नीरोग करने का बल है, जिसे धारण करने की वेद शिक्षा देता है । गहरा श्वास लेने का स्वभाव पैदा करना बड़ा लाभकारक है । छाती का फैलाव तथा फेफड़ों का बल बढ़ता है । शुद्ध वायु के अधिक मात्रा में अन्दर आने तथा मल-युक्त वायु के अधिक पूर्णता से बाहिर निकलने से, जठराग्नि प्रदीप्त होता है । पचाने की शक्ति उन्नत होती है । भीतर का विषैला द्रव्य प्रथम तो होता ही कम है और जब होता भी है, झट उसका

* "तनूः" शब्द का योगिक अर्थ किया गया है ।

भेदन हो जाता है और वह शरीर से बाहिर चला जाता है। धन्य हैं आर्य ऋषि, जिन्होंने वेद के इस भाव को ग्रहण करके, नित्य सन्ध्योपासना का प्राणायाम को भी एक अंग बना दिया है। सज्जनो, आप प्रत्येक बात में उनकी दीर्घ-दर्शिता का परिचय पाओगे। प्राण के विस्तार को अगले मंत्र में फिर बताया है।

* (१६) प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १९१ ॥
—१० ॥

प्राण (प्रजाः अनु) सब प्रजाओं को पूर्णतया (वस्ते) † अपनी छाया में रखता है, (इव) जैसे (पिता) अपने प्रिय पुत्र को अपनी छाया में रखता है। (ह) यह निश्चय है कि (यत् च) चाहे कोई वस्तु (प्राणति) श्वास लेती है (यत् च) और चाहे कोई (न) नहीं लेती (प्राणः) प्राण (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) स्वामी है।

सब प्राणियों का उत्साह और कर्म में चतुराई प्राण-बल पर निर्भर समझो। सब इन्द्रियों की शक्ति भी इसी से होती है। जब यह दुर्बल होने लगता है, आंखें पथराने लगती हैं, कानों में सांएं २ होने लगती है, गला सूखता है और मुंह में

---

* भार्गव ऋषि, मन्त्रोक्ता प्राणदेवता अनुष्टुभ् छन्दः।

† हमारे एक लेखक ने (अनु-वस्ते)=पीछे रहता है, यह अर्थ किया है। अनु कर्मप्रवचनीय है और यह क्रिया आच्छादन करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है अतः यह अर्थ ठीक नहीं है। पिता और पुत्र की उपमा ने उन्हें ऐसा कराया प्रतीत होता है। पर यह अनावश्यकतया अशुद्ध ही समझना चाहिए।

झाग आ जाती है * । वेद पिता और पुत्र के स्नेह से पूर्ण सम्बंध से उपमा देकर प्राण और उस की प्रजा-रूप शेष इन्द्रियों के परस्पर सम्बंध को बड़ी सरलता और बल के साथ प्रकट करता है। वायु-रूप प्राण सारे जगत् के जीवन का आधार है। जो तुम्हें श्वास लेते हुए दिखाई पड़ते हैं, और जो निर्जीव प्रतीत होते हैं, सब पदार्थ वायु का आश्रय लिये हुए हैं। मत समझो, कि पत्थर वा मिट्टी का टुकड़ा भी वायु के प्रभाव से कभी शून्य हो सकता है प्राणियों का तो वह जीवन है ही।

† (१७) अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा। यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १९२ ॥ —१४॥

पुरुष श्वास को बाहिर फैंकता और फिर (गर्भे अन्तरा) अपने अन्दर ग्रहण करता है। हे प्राण (यदा) जब (त्वम्) तुम (जिन्वसि) पुष्ट होकर शरीर की शक्ति को बढ़ाने लगते हो (अथ) तब (सः) वह प्राणायाम का अभ्यासी (पुनः) नये सिरे से (जायते) पैदा होता है।

प्राण की पुष्टि से नया जीवन संचार हो जाता है, इस बात को यह वेद-मन्त्र अच्छी तरह बतलाता है। प्राणायाम का अभ्यास करने के लिये साधारण क्रिया का भी उपदेश कर दिया गया है। श्वास को प्रथम बाहिर फैंकना और फिर

---

* दूसरे शास्त्रों में इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। देखो, छान्दोग्योपनिषद् ॥ १ । २ । ७–९ ॥

† भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राणदेवता, निचृत अनुष्टुप् छन्दः।

भीतर गर्भ में=अपने अन्दर भरना ही शनैः २ अभ्यास से परि-पक्व होकर प्राणायाम को सिद्ध कर देता है। नये जीवन में हेतु, नये रुधिर का पैदा होकर, निर्विघ्न शरीर में संचार करना है। इस का अभ्यास करके देखो।

* (१८) यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिल्लोक उत्तमे ॥१९३॥ —१८॥

हे प्राण (यः) जो (ते) तेरी (इदम्) इस महिमा को (वेद) समझ जाता है (च) और (यस्मिन) जिसमें तुम (प्रतिष्ठितः) अच्छी तरह धारण (असि) हो जाते हो, यह आवश्यक है कि (अमुष्मिन्) उस (उत्तमे) उत्तम (लोके) लोक-जीवन की अवस्था में (सर्वे) सब (तस्मै) उसके प्रति (बलिम्) पूजा का (हरान्) उपहार ले जावें।

जो प्राणायाम को सिद्ध करके महात्मा बन जाता है, उसके प्रति पूजा का भाव हम में होना चाहिए। वह प्रत्यक्ष धर्म-मूर्त्ति है। उसके पास रहने से हमारे अन्दर भी धर्म का प्रवेश होगा। पुस्तकों का इतना प्रभाव नहीं होता, जितना साक्षात्, अनुभव-पूर्ण जीवन का होता है। प्राणायाम की इस सिद्धि का अगले मंत्र में लक्षण बतलाया है—

(१९) यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥ १९४ ॥
—१९ ॥

---

* भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राण देवता, अनुष्टुभ् छन्दः।

हे प्राण, (यथा) जैसे (इमाः) यह (सर्वाः) सारी (प्रजाः) प्रजाएं, इन्द्रियां (तुभ्यम्) तुम्हारे प्रति (बलिहृतः) बलि लाने वाली-अधीन रहने वाली हैं (एव) ऐसे ही (सुश्रवः) हे कीर्त्ति के बढ़ाने वाले, (यः) जो (त्वा) तुझे (शृणवत्) सुनेगा-सिद्ध करेगा (तस्मै) उसके प्रति सब प्रजाएं (बलिम्) पूजा-भाव को (हरान्) लेकर उपस्थित होंगी।

जब प्राणायाम का अच्छा अभ्यास हो जाता है, तो प्राण की सूक्ष्म गति का भी अनुभव होने लगता है। यही प्राण को सुनना कहाता है। यह उच्च कोटि के अभ्यास का एक चिन्ह है। अभी मैंने आप से कहा था कि जब हम श्वास को बाहिर फैंकते हैं, तो सारी वायु बाहिर नहीं चली जाती। अत्यन्त अभाव हो जाने से शरीर में व्याकुलता पैदा हो जाने का भय है। इस बात को वेद क्या सुन्दरता से बताता है।

*(२०) एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग सतमुत्खिदेन् नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥ १९५ ॥ —२१ ॥

(हंसः) प्राण-हंस (सलिलात्) देह-सरोवर से (उत्-चरन्) बाहिर जाता हुआ (एकम्) एक (पादम्) पांव को (न-उत्खिदति) नहीं उठाता। (यद्) यदि (अंग) हे प्यारे, (सः) वह (तम्) उसे (उत्खिदेत्) उठा ले, तो (न एव) न ही (अद्य) आज हो, न (श्वः) कल हो, न रात्रि और न (अहः)

* भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राणदेवता, मध्ये ज्योतिर्जगती छन्दः।

दिन हो और न (कदाचन) कभी भी (व्युच्छेत्) प्रातः का प्रकाश हो।

जब प्राणान्त हो जाता है, तो फिर सूर्य के उदय और अस्त का कोई अनुभव नहीं हो सकता। जो कार्य कल किया था, वह आज नहीं हो सकता। मृत्यु सारे क्रम को काट कर मनुष्य को हक्का बक्का कर देती है। अतः प्राणों की शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए।

* (२१) ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् निपद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ १९६ ॥ —२५ ॥

प्राण सदा चलता ही रहता है, यह इस मन्त्र में कहा है। (सुप्तेषु) जब अन्य इन्द्रियां सो जाती हैं, प्राण (ऊर्ध्वः) उठा हुआ (जागार) जाग रहा होता है। (ननु) निश्चित रूप से (तिर्यङ्) तिरछा (नि पद्यते) चलता है, † पर (कः—चन) किसी ने (कभी भी) (न) नहीं (शुश्राव) सुना कि (सुप्तेषु) जब शेष शरीर के अंग सोते हैं, प्राण को भी (सुप्तम्) नींद ने भी घेरा हो।

---

* भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राण देवता, अनुष्टुभ् छन्दः।

† हमारे लेखक ने इस वाक्य को एक पहेली सी बना दिया है। वस्तुतः दूसरा पाद प्रथम की व्याख्या है, उसी का विस्तार है। परन्तु 'ननु' न–नु नहीं करने से ही उसका मार्ग रुका है। 'ननु' का दो भागों में बटकर 'न' का ही अर्थ देना अनुचित है, वस्तुतः यहां 'ननु' एक ही शब्द है= निश्चय करके। व्याकरण और स्वरप्रक्रिया का इतना एक संग बायकाट अच्छा नहीं। 'नि पद्यते' = गिरता है, क्यों? साधारण गति ही ठीक अर्थ है, जो यहां संगत हो सकता है। इसी लिए तो उसे इस पाद की कठिनता को स्वीकार करना पड़ा है।

प्राण आठों पहर अपना कार्य करता रहता है। जागृत और सुप्त अवस्था में केवल इतना भेद होता है कि जब हम जागते हुए बैठते या खड़े होते हैं, तो छाती ऊपर की ओर रहने से प्राण की गति ऊपर नीचे की दिशा में होती है। पर जब हम लेट जाते हैं, तो छाती तिरछी समतल हो जाती है। अब प्राण को ऊपर उठना नहीं पड़ता, वरन उसी सीध में अन्दर और बाहिर आना जाना पड़ता है। इस समतल (Horizontal) और ऊपर उठी हुई (Vertical) अवस्थाओं के भेद से प्राण की गति में वस्तुतः कोई भेद नहीं पड़ता। सारा संसार सोता है, पर प्राण जागता है।

इस प्रकार इस सूक्त में प्राण-बल की महिमा का पूर्णतया विस्तार करके तथा प्राणायाम की आवश्यकता को बता कर, अन्तिम मंत्र में वेद उसके क्रम की ओर भी इशारा करता है; प्राणायाम के मुख्य दो ही भेद हैं, जिनके छोटे भेद आगे और हो जाते हैं, प्राण का अन्दर भर कर ले जाना और बल-पूर्वक बाहिर फैंकना। कुम्भक तथा पूरक प्राणायाम द्वारा अपने आपको पूर्ण करने का इस मंत्र में स्पष्ट उपदेश किया गया है। उसे अब सुनो—

* (२२) प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि। अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥१९७॥

—२६ ॥

* भार्गव ऋषिः, मन्त्रोक्ता प्राण देवता, बृहतीगर्भा छन्दः।

हे प्राण तू (मत्) मेरे से (अन्यः) अलग न हो और न (परि-आवृतः) किसी तरह से भी रुकावट को प्राप्त हो। मैं (जीवसे) * जीने के लिए (त्वा) तुझे (मयि) अपने अन्दर (बध्नामि) ऐसे ही धारण करता हूं, (इव) जैसे (अपां-गर्भम्) पानी का भरा हुआ कोई घड़ा आदि पात्र होता है, जिस के अन्दर जल गर्भ की तरह धारण-किया हुआ होता है।

जल जैसे घड़े में भरा जाता है, ऐसे ही कुम्भक प्राणायाम से हमें प्राण का संचय करना चाहिए। ऐसा करने का फल दीर्घ जीवन होगा। इस प्रकार वेद में प्राणायाम का भी क्या मधुर, पूर्ण तथा स्पष्ट वर्णन पाया जाता है। इन बातों की कमाई आज योरुप में कई लोग नया विचार (new Thought) कह कर खा रहे हैं। अब आपको पता लग गया होगा कि भारत-वर्ष के ऋषियों के लिए यह बातें वेदोपदिष्ट तथा अनुसिद्ध थीं। आज भी चाहे कोई करे या न करे, प्राणायाम के गुणों को हम सब मानते हैं। सज्जनो, यदि हम अपने पूर्वजों की सफलता की कुंजियों का प्रयोग भी करना आरम्भ कर दें, तो हमारा बल असंख्य गुणा बढ़ सकता है। सच जानो, इस समय हमारी गर्दन लज्जा के मारे भूमि में घुसती जा रही है। संसार हमारी बातों को गपौड़े समझता है, कारण कि, हम जो कुछ कहते हैं,

---

* हमारे लेखक महाशय इसे क्रियापद-जीते हो, ऐसा समझे बैठे हैं। अधिक समालोचना की तो गुंजायश ही नहीं, पर इतनी पूंजी के भरोसे पर वेद का शिक्षक तथा भाष्यकार बनना कोई आसान काम नहीं है। बस हो गयी है।

उसे करते बहुत थोड़ा हैं। पाखण्ड घनेरा है, वास्तविकता बहुत कम है।

सत्य०—महाराज ! आपने तो सारा आयुर्वेद ही इस सप्ताह में पढ़ा दिया है। इन मौलिक नियमों के समझ लेने से वस्तुतः दीर्घायु का लाभ हो सकता है। रोग दूर हो सकते हैं। सुख बढ़ सकता है। शरीर की शक्ति उन्नत हो कर सामाजिक उन्नति की नींव बन सकती है। मुझे अब पूर्ण विश्वास हो गया है कि वेद के उत्साह-पूर्ण धर्म का संसार में इस समय बहुत कम प्रचार रह गया है। यदि यह भाव हमारे हृदयों में प्रविष्ट हो जावे, तो परतन्त्रता आदि सब दुःख दूर हो सकते हैं।

मा०—महाराज ! यदि मैं भूलता नहीं हूं, तो आप ने अभी तक वेद से चीरफाड़ का, जोड़ तोड़ (Surgery) का उपदेश नहीं किया। क्या इस के सम्बन्ध में भी वेद का कुछ सन्देश है ?

महा०—मैंने एक दिन बतलाया था कि किस तरह एक समय हमारे यहां इस विद्या का भी प्रचार था और किस तरह अपनी ही मूर्खता के कारण हमने इसे खो दिया है। पर, यह मानी हुई बात है कि ओषधि-सेवन की अपेक्षा इस में परिश्रम भी अधिक होता है। इस का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि लोग इस का आश्रय तब ही लेते हैं, जब अन्य किसी सुगम उपाय से शान्ति न हो सके। जैसे टांगों या भुजाओं में घाव आदि के कारण जब मांस गल जाता है, तो अब ओषधि अन्दर से प्रभाव पैदा करके नया मांस आसानी से नहीं ला सकती। डाक्टर चाकू से छील छाल कर उस प्रभाव का उचित

क्षेत्र बना देता है, या उस की आवश्यकता को ही दूर कर देता है । यह इस बात का उत्तर है कि क्यों वेद में मुख्य-रूप से शल्य-चिकित्सा का फैलाव नहीं है । पर बीज इस का भी वहां स्पष्ट पाया जाता है । इस का विस्तार होता २ ही आज अति सूक्ष्म तथा आश्चर्य-जनक शल्य-क्रिया (operations) तक आ पहुंचा है । कई दिन हो गये, शरीर का वर्णन करते २ अब जी उकता गया है, तो भी आप के लिए इस प्रसंग में दो मन्त्र सुनाए देता हूं—

* (२३) चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम् । सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम् ॥ १९८ ॥   ऋ० १ । ११६ । १५ ॥

हे आदर्श वैद्यो, तुम्हारी बड़ी महिमा है । (परितक्म्यायाम्) रात्रि के समय (आजा) युद्ध के घमसान में (खेलस्य) खेलते हुए योधा की (चरित्रम्) चलने में अत्यन्त सहायक टांग (अच्छेदि) कट गयी है, (इव) जैसे (वेः) किसी पक्षी का (हि) वस्तुतः (पर्णम्) पंख कट गया हो (सद्यः) तत्काल तुम ने (आयसीं जंघाम्) लोहे की भान्ति दृढ़ जांघ को (प्रति-अधत्तम्) पुनः अपने स्थान पर जोड़ दिया है, ताकि वह (हिते) हितकारी (धने) धन की प्राप्ति के लिये (विश्पलायै) जनता के मध्य में गति शील हो कर (सर्त्तवे) चल फिर सके ।

सम्पूर्ण वैद्य वही है जो वेद के वचनानुसार हड्डी, पसली टूटने पर जोड़ भी सके । जीवन के संग्राम में, धन ऐश्वर्य की

* कक्षीवानृषिः, अश्विनौ देवते, निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ।

वृद्धि तथा धर्म की रक्षा के लिये लड़ते हुए लोगों की कई वार अन्धकार के कारण=अज्ञान द्वारा टांग आदि अवयव टूटते रहते है। योग्य शल्य-शास्त्रियों को चाहिये कि उसी समय ही अपनी कुशलता द्वारा कष्ट दूर करें।

*(२४) शतं मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार। तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजानर्वन् ॥१९९॥ —१६॥

(शतम्) सौ (मेषान्) आंखों की झपक पर्यन्त (ऋज्राश्वम्) चंचल इन्द्रियों वाला मनुष्य (वृक्ये) चौर-कर्म, पाप-कर्म की ओर (चक्षदानम्) प्रवृत्त रहता है। (तम्) उसे इस का दण्ड मिलता है। (पिता) परमेश्वर (अन्धं चकार) उसे अन्धा कर देता है। इन्द्रियों का दुष्प्रयोग करके वह उन्हें दुर्बल कर लेता है। पर जब वह दुःखी हो कर योग्य वैद्यों की शरण में जाकर रोता है, तो वह उसे धर्म का उपदेश भी करते हैं, और उसका कष्ट भी दूर करते हैं। (नासत्या) हे सदा सत्य-प्रभाव-युक्त ओषधियों द्वारा अपने रोगियों के (दस्रा) रोग-नाश करने वाले (भिषजा) वैद्यो, उस (अनर्वन्) मन्द-गति तथा दुःख को प्राप्त हुए २ को (विचक्षे) अच्छी तरह देखने के लिये (अक्षी) आंखों को (आधत्तम्) ठीक प्रकार से धारण कराते हो।

पूर्वार्धे में जगन्नियन्ता के अटल शासन का भले प्रकार वर्णन

* भूरिक् पंक्तिः छन्दः, शेष पूर्ववत्।

किया गया है। यह नहीं हो सकता कि मनुष्य बे-लगाम होकर विषय-वासनाओं में डूबा भी रहे, और उसे कोई दुर्बलतादि द्वारा व्याधि भी न सतावे। वैदिकजीवन का अब दूसरा रूप सामने आता है। परमात्मा की न्याय-शील शासन-पद्धति ने अपना चक्र चला दिया। अब स्वतन्त्र कर्म-कर्त्ता मनुष्य ने अपने हृदय का परिचय देना है। पापी प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करता हुआ चारों ओर किसी का हाथ पकड़ कर पार कराने वाले की खोज में भटकता है। उसे केवल धर्मोपदेश सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसको दिन रात व्याकुल करने वाली वेदनाओं को प्रथम दूर करना आवश्यक होगा। जो इन्द्रिय-शक्ति विकल हो गयी है, उसे पुनः पुष्ट करना होगा। तब वह भक्ति तथा शान्ति के उपदेश का अधिकारी बनेगा। क्या संसार फिर इस आदर्श की ओर झुकेगा? क्या यह दोनों कार्य कर सकने वाले योग्य ब्राह्मण गुण-भूषित वैद्यराज फिर पैदा होंगे? क्या आर्य-वैद्य यह अनुभव करेंगे कि हम ने अपने पूर्व ऋषियों की विस्तृत विद्या को कितना संकुचित कर दिया है? प्यारो, देखो वेद भगवान् वैद्यों को कितना विस्तृत ज्ञान धारण करने का उपदेश करता है—

* (२५) त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः। ओमानं शंयोर्ममकाय सूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पती ॥२००॥　　॥ ऋ० १। ३४। ६ ॥

---

* हिरण्यस्तूप आंगिरस ऋषिः, अश्विनौ देवते, विराड् जगती छन्दः।

(अश्विना) हे योग्य वैद्यो, (नः) हमें (दिव्यानि) द्युलोक में होने वाली (पार्थिवानि) पृथिवी पर होने वाली तथा (अद्भ्यः) जल से (त्रिः) तीन प्रकार की (भेषजा) रोग-निवारक शक्तियों को (दत्तम्) प्रदान करते रहो। (ममकाय) मेरे (सूनवे) कुल की वृद्धि करने वाले पुत्रादि के लिये (ओमानम्) रक्षा करने वाले (शं-योः) रोग के शमन तथा निवारण करने वाले (शर्म) कल्याण को (शुभस्पती) हे शुभ भावों के स्वामियो, (वहतम्) ले आया करो, जिस से कि (त्रिधातु) तीनों प्रकार से, अर्थात् दिव्य, पार्थिव तथा जलीय चिकित्साओं से सदा लाभ होता रहे।

भगवान् ने सूर्य विद्युत् और अग्नि यह तीन प्रकाशमय भेषज बनाये हैं। यही दिव्य चिकित्सा के आधार स्तंभ हैं। पृथिवी पर तीन प्रकार की रचना है, ओषधियां, पशु तथा जड़ धातु, लोहा आदि। यह तीन प्रकार की पार्थिव चिकित्सा के मूल पदार्थ हैं।

काष्ठिक ओषधियां, तुलसी, गिलो, हरीतकी, आमला आदि बड़े गुणों से युक्त हैं। पर रस-वैद्यक के चमत्कार भी सराहनीय हैं। लोहे, चान्दी सोने आदि धातुपदार्थों को भिन्न २ प्रकार के योगों में से गुज़ार कर भस्म करके वैद्यराज नया शरीर पैदा करने का साधन हाथ में ले लेते हैं। घी, दूध आदि उत्तमोत्तम पदार्थ सौ ओषधियों की एक ओषधी है। इनके ठीक नियमानुसार प्रयोग करते रहने से बुढ़ापा दूर रहता है। जल केवल जल रूप में ही लाभकारी नहीं, वरन् हिम (बरफ) तथा भाप

के रूपों में भी अनेक प्रकार से रोग दूर करने में सहायक बन सकता है। यह जल द्वारा तीन प्रकार की चिकित्सा-विषयक सहायताओं का व्योरा है।

संक्षेप से वेद ने सारे संसार की चिकित्सा-पद्धति का दिग्दर्शन इस एक मंत्र में ही करा दिया है। वेद का तो यह आशय है कि निर्लोभ वैद्य के लिए परमात्मा की सारी सृष्टि ही हाथ फैलाए सहायता करने को खड़ी रहती है। जब वह उचित समझता है, सूर्य और बिजली आदि दिव्य पदार्थों को अपने भाइयों के कल्याण के लिये निमन्त्रित कर लेता है। दूसरे समय यह ओषधियों और वनस्पतियों द्वारा संसार को रोग से मुक्त कर देता है। कभी भूमि खोद कर धातु निकालता है और भस्म बना कर शीशियों में डाल कर रख लेता है। जब किसी निःसत्त्व प्राणी को देखता है, एक रत्ती भर उसे कुछ खिला कर जिला देता है। कभी जल से ही उस की नाड़ियों को शुद्ध कराता हुआ, उत्तम पाचन-शक्ति को उन्नत कर देता है। सार, यह, कि आदर्श वैद्य की बुद्धि के विस्तार का कोई अन्त नहीं। वैद्यों से हमें क्या २ आशाएं हो सकती हैं, यह अगले मंत्र में कहा है।

* (२६) या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासतामिषम् ॥२०१॥ अथर्व० १६। ४०४॥

(अश्विना) हे ओषधियों तथा अन्य चिकित्सा-विधियों में निपुण वैद्यो ! (या) जो (नः) हमें (ज्योतिष्मती) प्रकाश

* ब्रह्मन् ऋषिः, बृहस्पति देवता, आर्षी गायत्री छन्दः।

से युक्त होता हुआ (तमः) अन्धकार (तिरः) में से (पीपरत्) पार कर सकता है, (ताम्) उस (इषम्) आहार को (अस्मे) हमें (रासताम्) प्रदान करो।

यह वह पवित्र मंत्र है, जिस का ध्यान आप को नित्य भोजन के समय करते रहना चाहिये। उस समय आप के वैद्य सूर्य, चन्द्र आदि भौतिक देवता हैं। जो आप भोजन करो, वह प्रकाश, कांति और दीप्ति को उत्पन्न करने वाला हो। वह इतना बल पैदा करे कि अधिक परिश्रम करने पर भी आपकी आंखों के आगे अन्धेरा न आवे, शिर में चक्र न आवें, थकावट की प्रतीति न हो और सदा उत्साह बना रहे, प्रसन्न चित्त और शान्त वृत्ति को साथ मिला कर भोजन का आरम्भ किया करो। उत्तम वैद्यों का यह कर्तव्य है, कि वह जहां रहें, वहां जनता को इस विषय का ज्ञान कराते रहें। उन्हें दुकानदारी का भाव कुछ समय के लिये मनसे हटाकर ज्ञान-दान की ओर भी झुकना चाहिये। यदि एक २ नगर में ऐसा एक २ भी वैद्य खड़ा हो जावे, तब भी बड़ा उपकार हो सकता है।

सत्य०—महाराज, अब जब कि इस प्रकार के आदर्श वैद्यों का दर्शन दुर्लभ हो गया है, हमें, वह मार्ग बताइये, जिस का अवलम्बन करके हम अपने आप भी सुखी रह सकें।

महा०—ध्यान से सुनो। इस एक मंत्र को पकड़ लो, तुम्हारा कल्याण हो जावेगा।

* (२७) ऊर्जं गावो यवसे पीवो अत्तन ऋतस्य याः

---

* दुवस्युर्वान्दन ऋषिः, विश्वेदेवा देवता, विराड् जगती छन्दः।

सदने कोशे अङ्ध्वे। तनूरेव तन्वो अस्तु भेषजमा सर्वता-तिमदितिं वृणीमहे ॥२०२॥ ॥ ऋ० १० । १०० । १० ॥

(गावः) हे इन्द्रिय-रूपी गौओ, (याः) तुम जो (ऋतस्य) मर्यादा के (सदने) संस्थापन-रूपी (कोशे) कोश में (अङ्ध्वे) प्रकट होती हो, (यवसे) धान्य-पूर्ण क्षेत्र में (पीवः) उन्नति-शाली (ऊर्जम्) अन्न को (अत्तन) खाओ। (तनूः-एव) शरीर ही (तन्वः) शरीर का (भेषजम्-अस्तु) भेषज हो (सर्व-तातिम्) सब कामनाओं को सिद्ध करने वाले (अदितिम्) अखंड नियम-पालने के भाव को हम (आ-वृणीमहे) स्वीकार करते हैं।

ऋत अर्थात् मर्यादा तथा नियम-चर्या द्वारा सब इन्द्रियां अपने उन्नति-शाली स्वरूप को धारण करती हुई, मानो प्रकट होती हैं। सब शक्तियों को धर्मानुसार प्रयोग में लाते हुए ही यह शरीर दृढ़ तथा सुडौल होकर पौष्टिक अन्न का अधिकारी बनाया जा सकता है। खाने से पूर्व भोजन की शुद्धि तथा शक्ति का भी ध्यान करना चाहिये। सबसे बड़ी ओषधि तो यही है। जो २ वस्तु देह के सब अवयवों को समता पूर्वक उन्नत करने के लिये आवश्यक हो, उस २ को अपने नित्य के भोजन में सम्मिलित करना चाहिये। हमारी जाति ने वेद के इस उपदेश पर आचरण करना सर्वथा भुला दिया है। हमारा रुपया जितना मकानों, ज़मीनों, कपड़ों, सन्दूकों, अलमारियों पर लगता है, उस का कुछ युक्त भाग यदि पुष्टिकारक आहार पर व्यय होवे, तो हम में इतनी दुर्बलता क्यों हो? प्रत्येक युवक की शिक्षा का एक अंग यह भी होना चाहिये कि मनुष्य को भिन्न २

अवस्थाओं में क्या और कैसे भोजन करना चाहिए। इस ज्ञान से युक्त होकर और मर्यादा. का पालन करते हुए मनुष्य अपने शरीर को इस योग्य बना सकता है कि वह अपनी चिकित्सा स्वयं कर सके। प्रभु ने इस की रचना में यह गुण भरा हुआ है कि यह सदा नीरोग रहने की ओर झुका रहता है। यदि इस में रोग पैदा होता है, तो यह हमारे अस्वाभाविक जीवन का दोष है। प्रभु की सृष्टि के नियम अटल हैं। उसका व्रत अखण्ड है। यदि हम भी इसी प्रकार योग-युक्त होकर रहने का अभ्यास कर लें, तो अधिकतर दुःखों से बच सकते हैं।

सज्जनो, इस मंत्र के साथ मैं शरीर के प्रकरण को समाप्त करना चाहता हूं। आप ने अब जान लिया है कि वेद का इस विषय में कितना गौरव से पूर्ण सन्देश है। आयुर्वेद एक बड़े विस्तृत तथा नाना शाखाओं में विभक्त विज्ञान का नाम है। पर आपने यह देख लिया है कि वेद-माता के पवित्र दूध से ही वह आरम्भ में पुष्ट हुआ २ है। इस पर यह और भी आश्चर्य की बात है कि यह मूल-शिक्षाएं अब भी वैसी ही नयी और आचरण करने योग्य हैं, जैसी कि यह आदि ऋषियों के समय में थीं।

शरीरोन्नति का कौन सा उपाय है, जो वेद ने न बताया हो। निराशावाद के गढ़े से निकल कर, शारीरिक जीवन के विषय में मिथ्यावाद को कुचल कर, वेद हमें उन्नति के राजपथ पर डाल देता है। भौतिक चिकित्सा तथा ओषधियों का ठीक प्रकार से सेवन करना सिखाता है। शरीर की शरीर से ही शक्ति पैदा करने का उपदेश भी मौजूद है। अनावश्यक रीति से प्रति-क्षण

ओषधियां और धातु-रस खाते रहना कुछ अच्छा नहीं । हमारा यह यत्न होना चाहिए कि हमारे अन्दर से ही शक्ति का विकास हो । जब विशेष रोग स्वयं दबने वाला न हो, तो सूर्यादि देवताओं की शरण में जाना चाहिये । जब बात और भी आगे चली जावे, और रोग का शीघ्र नाश होता न देख पड़ता हो, अथवा मरने का भी भय हो, तो ओषध-सेवन बाह्य उपचार, लेप, मणिबन्ध आदि अथवा शल्य चिकित्सा का आश्रय लेना उचित है । जैसे भी हो कोई न कोई उपाय करते ही रहना चाहिये । निराश कभी न होना चाहिये । सब चिकित्साएं साधन हैं, स्वास्थ्य साध्य है । साधनों के विषय में परस्पर लड़ाई करना मूर्खों का काम है । सदा एक ही साधन काम दे सकता है, यह भी बुद्धिमत्ता की बात नहीं है । निपुण वही गिना जाता है, जो अवसर को देख कर उचित प्रयोग को कर दिखाता है ।

प्यारे सत्संगियो । मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आपने निरन्तर इतने दिन वेद-सन्देश को सुन कर लाभ उठाया है । परमात्मा का मैं धन्यवाद करता हूं कि उसने मुझे इस पवित्र कार्य में निमित्त बनाया है । पर आपको पता ही है कि ऋषि दयानन्द जी महाराज का ही यह पुण्योदय है, जिसने हम सब को जगाया है । आज उसके जन्म की प्रथम शताब्दी है । आर्य सज्जनों ने मथुरा नगर में, जहां कि ऋषि को वैदिक बोध प्राप्त हुआ था, एक बड़ा महोत्सव रचाया है । मैं उसमें सम्मिलित होना पुण्य-कार्य समझता हूं । कल मैंने इसी के उपलक्ष्य में यहां से चल पड़ने का निश्चय कर लिया है ।

सत्य०—महाराज, मैं तो आप के ही साथ रहूंगा।

महा०—अच्छी बात है। और भी जो चलना चाहो, कल तैयार होकर समय पर आ जाओ। कुछ स्थानों पर धर्म प्रचार करते हुए, मथुरा पुरी में पहुंच जावेंगे। प्रेमियो, इतना समय जो कुछ आपने सुना है, अब इसका मनन करो और आचरण में लाने का यत्न करो। कोई एक मास में हम वहां से लौट आवेंगे। तब फिर इसी प्रकार आप अन्तः करण की शुद्धि, आत्मिक-जीवन तथा प्रभु-भक्ति आदि के विषय में वेद-सन्देश सुना करेंगे। प्रभु करें कि यह वेद का सुनना सुनाना सदा ऐसे ही बना रहे।

इति द्वितीये शरीर-सन्देशे पंचम उच्छ्वासः॥

वेद-सन्देशे द्वितीयोऽध्यायः प्रथमो भागश्च सम्पूर्णः॥

Tytle only